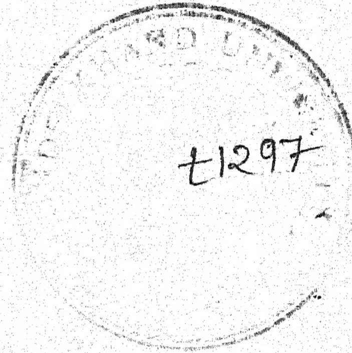
डॉ. धर्मवीर भारती और हिन्दी पत्रकारिता

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी (उ.प्र.) में

पी-एच.डी. की उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

2
0
0
2



शोध निदेशक

डॉ. (श्रीमती) यामिनी श्रीवास्तव
पूर्व रीडर, हिन्दी विभाग
दयानन्द वैदिक स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उरई

अनुसंधित्सु

देवेश कुमार
5, प्राध्यापक निवास
राठ रोड , उरई

शोध केन्द्र

दयानन्द वैदिक स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उरई - जालौन (उ.प्र.)

शोध निदेशिका का प्रमाण पत्र

मुझे यह प्रमाणित करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि देवेश कुमार आत्मज डॉ. राम स्वरूप खरे निवासी राठ रोड उरई ने मेरे निर्देशन में हिन्दी विषयान्तर्गत **'धर्मवीर भारती और हिन्दी पत्रकारिता'** शीर्षक से शोध प्रबन्ध पूर्ण कर लिया है।

शोधार्थी ने सम्पूर्ण मनोयोग से अथक परिश्रम किया है। स्थान-स्थान पर जाकर डॉ. धर्मवीर भारती से सम्बन्धित साहित्यकारों व पत्रकारों से सम्पर्क साधकर वांछित सूचनाएँ एकत्रित की हैं। सम्बन्धित पुस्तकों एवं सम-सामयिक पत्र-पत्रिकाओं के अध्ययन, मनन एवं अनुशीलन द्वारा शोध सामग्री जुटाई है।

शोधार्थी ने विश्वविद्यालय की परिनियमावली के अनुसार 200 दिन की उपस्थिति दी है।

मैं इस शोधकार्य से पूर्णरूपेण संतुष्ट हूँ। निस्संदेह यह एक मौलिक प्रयास है।

शोधार्थी के समुज्ज्वल भविष्य की कामना करती हुई मैं इस शोध प्रबन्ध को मूल्यांकन हेतु परीक्षक मण्डल के पास भेजे जाने की संस्तुति करती हूँ।

यामिनी

30.12.02

डॉ. (श्रीमती) यामिनी श्रीवास्तव

शोध निदेशिका

प्राक्कथन

जब मैंने स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की तब हृदय में उत्कट अभिलाषा थी कि पी-एच.डी. करूं ,किन्तु गृहस्थी और शासकीय सेवा की व्यस्तता में समय निकलता चला गया। पूज्य पिताश्री निरन्तर यह कहकर प्रेरित करते रहे कि - 'बेटा, जीवन की व्यस्ततायें तो सदैव ऐसी ही रहेंगी , वे कभी भी कम न होंगी अपितु ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता जायेगा उनकी भी अभिवृद्धि होती जायेगी। अतएव दृढ़ निश्चय करके पूरी निष्ठा के साथ शोध कार्य में जुट जाना तुम्हारा पुनीत धर्म है। तुम्हारे नाम के पूर्व भी 'डॉक्टर ' लगे तो मुझे अपार प्रसन्नता होगी।'

बस फिर क्या था , मैंने श्रद्धेय दीदी परम विदुषी एवं विभागाध्यक्षा डॉ. यामिनी जी से भेंट की और अपनी इच्छा प्रकट की। 'पत्रकारिता' मेरा विषय भी रहा है और रुचि भी। कार्यक्षेत्र आकाशवाणी होने के कारण यह रुचि दिनोंदिन बढ़ती ही गई। मैं अपने विद्यालयीन दिनों से ही धर्मयुग का नियमित पाठक था। किशोरावस्था में प्रवेश किया तो सबसे पहले जो उपन्यास पढ़ा- वह

था 'गुनाहों का देवता'। तभी से भारती जी के प्रति एक लगाव सा अनुभव करने लगा था। धर्मयुग का प्रकाशन जब बन्द हुआ तो अनेक हिन्दी प्रेमियों की तरह मुझे भी हार्दिक दु:ख हुआ। जब शोध कार्य करने की बारी आयी तो मुझे लगा कि पत्रकारिता के क्षेत्र में भारती जी के योगदान पर अभी तक कोई शोधकार्य नहीं हुआ है, क्यों न मैं इस विषय पर कार्य करूँ। परमादरणीय यामिनी दीदी भी मेरे इस विचार से बहुत प्रसन्न हुईं। उन्होंने मुझे शोध कार्य की संक्षिप्त रूपरेखा बनाकर लाने के लिए कहा। लगभग एक सप्ताह बाद मैं संक्षिप्त रूपरेखा बनाकर दीदी से पुन: मिला। उन्होंने उसमें कुछ संशोधन करते हुए कहा - 'जाओ इसे 11 प्रतियों में टाइप करा लो और मेरे हस्ताक्षर कराकर विश्वविद्यालय भेज दो।'

विश्वविद्यालय से अनुमोदन प्राप्त होते ही मैं पूरे मनोयोग से अपने शोधकार्य में जुट गया। धर्मयुग के पुराने अंकों को फिर पढ़ना मेरे लिए ऐसा अनुभव रहा मानो काल का पहिया उलटा घूम गया हो और मैं बीते दिनों को फिर अपने सामने जीवन्त होते देख रहा हूं।

विषय का भलीभांति प्रतिपादन किया जा सके इसलिए मैंने समूचे शोध प्रबन्ध को नौ अध्यायों में विभक्त किया।

प्रथम अध्याय में मैंने भूमिका शीर्षक के अन्तर्गत समकालीन सामाजिक,

राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का वर्णन किया है। किसी भी रचनाकार पर सबसे ज्यादा प्रभाव इन्हीं परिस्थितियों का पड़ता है।

द्वितीय अध्याय में 'धर्मवीर भारती की जीवन रेखा' शीर्षक के तहत भारती की वंश परम्परा, जन्म, शिक्षा, विवाह और सन्तति के बारे में जानकारी देते हुए यह बताने का भी प्रयास किया है कि उन्हें लेखन की प्रेरणा कैसे प्राप्त हुई और पत्रकारिता की ओर उनका झुकाव कैसे हुआ। भारती के दाम्पत्य जीवन के बारे में भी मैंने कुछ नई जानकारियाँ देने का प्रयास किया है।

तृतीय अध्याय का शीर्षक है 'धर्मवीर भारती का व्यक्तित्व'। इस अध्याय में मैंने भारती के बाह्य व्यक्तित्व और आंतरिक व्यक्तित्व, दोनों पर ही प्रकाश डाला है। इसमें उनके रूप,वर्ण, पहनावा,स्वभाव और रुचियों के बारे में जानकारी दी है। इसी अध्याय में उनके वैयक्तिक गुणों और विचारधारा का भी परिचय दिया गया है।

चतुर्थ अध्याय डॉ. भारती के कृतित्व से सम्बन्धित है। इसमें उनके द्वारा रचित कविता, निबन्ध, नाट्य काव्य, आलोचना, उपन्यास, शोध प्रबन्ध, कहानी संग्रह, एकांकी, अनुवाद आदि का संक्षिप्त परिचय देते हुए उनकी विषय वस्तु पर भी प्रकाश डाला गया है।

पंचम अध्याय 'हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास' है। इसके अन्तर्गत मैंने हिन्दी पत्रकारिता के उद्भव और विकास की जानकारी देते हुए स्वातंत्र्य पूर्व,

स्वातंत्र्योत्तर और अधुनातन हिन्दी पत्रकारिता की दिशा और दशा की विवेचना की है। इस अध्याय में प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के बारे में भी जानकारी दी गई है।

षष्ठ अध्याय 'भारती की हिन्दी पत्रकारिता' से सम्बन्धित है। इसमें मैंने भारती की पत्रकारिता को तीन कालों में विभाजित करते हुए प्रत्येक काल में उनके द्वारा पत्रकारिता की विभिन्न विधाओं में किये गए लेखन की चर्चा की है।

सप्तम अध्याय का शीर्षक है 'भारती की हिन्दी पत्रकारिता के विविध आयाम'। इसके अन्तर्गत मैंने सम्पादकीय लेखन, विवरणात्मक पत्रकारिता, साहित्यिक पत्रकारिता, संस्मरण आदि शीर्षकों के तहत भारती के प्रमुख लेखों को उद्धृत करते हुए उनकी विवेचना की है।

आठवाँ अध्याय है 'धर्मवीर भारती और धर्मयुग'। इसमें धर्मयुग के प्रबंधन, सम्पादन, मुद्रण आदि में भारती की भूमिका पर प्रकाश डाला गया है।

नवम् अध्याय उपसंहार से सम्बन्धित है। इसमें सम्पूर्ण शोध प्रबन्ध का निष्कर्ष निकालते हुए सम्पादक के गुण, हिन्दी पत्रकारिता में भारती के योगदान तथा हिन्दी साहित्य, समाज और देश को भारती की देन को रेखांकित किया गया है।

अन्त में एक **परिशिष्ट** है जिसमें संदर्भ ग्रंथों की सूची के साथ-साथ पत्र-

पत्रिकाओं की सूची भी दी गई है।

इस शोध प्रबंध के लेखन में यदि मुझे परम विदुषी और स्नेहमयी दीदी श्रीमती यामिनीजी का सम्यक मार्गदर्शन न मिला होता तो यह शोध प्रबंध अपूर्ण ही रह जाता। आपने मेरा शोध-मार्ग प्रशस्त किया है इसके लिये मैं जीवन पर्यन्त आभारी रहूंगा। पूज्य पिताश्री युगकवि डॉ. रामस्वरूप खरे के पारस स्पर्श का ही प्रताप है कि जीवन की व्यस्तताओं और जटिलताओं से जूझते हुए भी मैं यह शोधकार्य पूर्ण करने के लिए कटिबद्ध हुआ। महिमामयी माताश्री श्रीमती कमलादेवी के स्नेह और आशीषों की ऊष्मा जीवन में सदैव ही पग-पग पर मुझे ऊर्जा और प्रेरणा प्रदान करती रही है। पितृतुल्य परम आदरणीय श्री बद्रीप्रसाद जी (श्वसुर) एवं श्रीमती ललिता देवी जी (सास) से समय-समय पर जो आशीष भरी प्रेरणा मिली उसे कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता।

बन्धु समान मित्र दंपती सुरेन्द्र सक्सेना-श्रीमती शालिनी व उनकी नटखट लाड़ली बिटिया कृति (चूँ चूँ) तथा रवीन्द्र सक्सेना-श्रीमती ज्योति और प्यारी बिटिया पूजा का योगदान भी अविस्मरणीय है।

इस अवसर पर स्नेहमयी दीदी श्रीमती स्नेह श्रीवास्तव एवं परम आदरणीय जीजाजी श्री सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव, परम आदरणीय अग्रजों सर्वश्री ब्रजेश, राजेश, सर्वेश एवं अतुल दादा, आदरणीय भाभियों श्रीमती शशि, उमंग, रश्मि

एवं सीमा, प्रिय अनुजों शतमन्यु एवं ब्रह्मा तथा अनुजवधुओं अंजना व सीता के साथ-साथ अनुजा अपर्णा व अनुजवत भार्याबन्धु अनुराग का अयाचित सहयोग सदैव स्मरण रहेगा ।

अपने कवि हृदय ताऊ जी परम श्रद्धेय श्री जमुना प्रसाद जी एवं ताई श्रीमती कृष्णा एवं बड़ी भाभी श्रीमती सुशीला देवी का शुभाशीष अहिर्निश मेरे ऊपर रहा।

सहधर्मिणी आभा ने शोध प्रबन्ध के लेखन के दौरान मानसिक और व्यावहारिक स्तर पर जिस तरह मुझे प्रोत्साहित किया वह अभिव्यक्ति की नहीं अनुभूति की बात है। नटखट देवांश की शरारतों से मिली ऊर्जा ने मुझे कभी भी श्रम-शिथिल नहीं होने दिया।

जिन महानुभावों ने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से मेरे शोध ग्रंथ लेखन में सहयोग प्रदान किया है उन सभी के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

देवेश कुमार

- देवेश कुमार

विषय सूची

समर्पण

शुभाशीष की कामना के साथ

यह शोध कृति

पूज्य पिताश्री युगकवि

डॉ. रामस्वरूप जी खरे

एवं

महिमामयी श्रद्धेय माँ

श्रीमती कमला देवी

के कर-कमलों में सश्रद्ध समर्पित है।

- देवेश

प्रथम अध्याय

भूमिका

प्रथम अध्याय

भूमिका

धर्मवीर भारती के साहित्यिक अवदान से लगभग सभी परिचित हैं। 'गुनाहों का देवता' से प्रारम्भ उनकी लेखन यात्रा 'सपना अभी भी' तक पहुंचते-पहुंचते जिन पड़ावों से होकर गुजरी उसके बारे में तो बहुत कुछ लिखा जा चुका है किन्तु उनके जिस योगदान ने साहित्यिक इतिहास की धारा ही बदल दी, वह थी उनकी पत्रकारिता। भारती के पत्रकारीय कौशल और इस क्षेत्र में उनके योगदान के बारे में तथ्यात्मक रूप से बहुत कम लोग जानते हैं।

इलाहाबाद के अतरसुइया मोहल्ले से बम्बई (अब मुंबई) की टाइम्स बिल्डिंग और साहित्य सहवास तक की यात्रा अनायास ही तय नहीं हो गई। इसके पीछे श्रम, समर्पण, निष्ठा, लगन और योग्यता के अनुच्छेदों से लिखी गई एक लम्बी कहानी है। किसी भी रचनाकर्मी के व्यक्तित्व को रचने-गढ़ने में उन परिस्थितियों का बहुत योगदान होता है जिनमें पल-बढ़कर वह दुनिया को अपने दृष्टिकोण से देखने, समझने और समझा सकने योग्य बनता है। यही बात भारती पर भी लागू होती है। इसीलिए उनके लेखकीय और सम्पादकीय संसार में प्रवेश से पहले उन परिस्थितियों को जानना भी बहुत आवश्यक है जिनसे

उनका बचपन, यौवन और शेष जीवन प्रभावित हुआ।

समसामयिक परिस्थितियाँ

भारती का जन्म उस समय हुआ जब गुलामी की जंजीरों में जकड़ा भारत आजादी के लिए बेहद आतुर हो उठा था। जनता अंग्रेजों को खदेड़ने के लिए कटिबद्ध हो चुकी थी। भारती की बाल बुद्धि ने जब थोड़ा-बहुत समझना शुरू किया तो सबसे पहले उनके मन में यही बात बैठी कि ये जो अंग्रेज हैं, बहुत बुरे और आततायी हैं। ये जबरन हमारे घर में घुसे बैठे हैं। दूसरी बात उन्हें यह समझ में आयी कि महात्मा गांधी इन अंग्रेजों को देश से भगाने के लिए प्रयासरत हैं और वे बहुत महान नेता हैं।

भारती ने किशोरावस्था में प्रवेश किया ही था कि द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ गया।[1] इस समय भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम ने सम्पूर्ण शक्ति का संगठन किया, इस आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग भी प्राप्त हुआ। 9 अगस्त सन् 1942 में भारत छोड़ो आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। इसके परिणाम स्वरूप भारत में ब्रिटिश शासन की नैया भवनिधि के सागर में डगमगाने लगी। देश के अन्य अनेक जागरूक किशोरों की तरह भारती भी स्वयं को इस आन्दोलन से असम्पृक्त न रख सके। उन्होंने पूरे जोश-खरोश से इस आन्दोलन में हिस्सेदारी की। उत्साह का आलम यह था कि आन्दोलन के लिए उन्होंने एक साल के लिए स्कूल भी छोड़ दिया।[2] अंग्रेजी हुकूमत के प्रधानमंत्री 'एटली' ने 20 फरवरी सन्

1. धर्मवीर भारती व साहित्य सृजन के विविध रंग : चन्द्रभानु सोनवणे, पृ.3
2. धर्मवीर भारती - साहित्य के विविध रंग : हुकुम चन्द राजपाल, पृ. 19

1946 को सर्वत्र इस बात का ढिंढोरा पिटवा दिया कि जून 1948 ई. तक भारतवर्ष को दासता के बन्धन से मुक्त कर दिया जायेगा।

लार्ड माउण्टबेटन ने नेताओं से सलाह-मशविरा करके 15 अगस्त सन् 47 को भारतवर्ष को दो हिस्सों में विभाजित कर हिन्दुस्तान-पाकिस्तान नामों का सृजन कर स्वतन्त्रता जैसे शब्द को जन्म दिया। इस घटना के परिणाम स्वरूप सर्वत्र अशान्ति का बोल- बाला हो गया।[1] पंजाब जैसे स्थान पर जघन्य हत्याकाण्ड हुए तथा सन् 1948 में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी को इस भारत भूमि ने अपने हाथों से खो दिया। बापू की हत्या ने इक्कीस वर्षीय भारती के संवेदनशील मन को झकझोर कर रख दिया। 26 जनवरी 1950 को भारत वर्ष ने सर्वशक्तिमान गणतंत्रात्मक राज्य घोषित होने का गौरव प्राप्त किया और डा. राजेन्द्र प्रसाद को भारत का प्रथम राष्ट्रपति व जवाहर लाल नेहरू को प्रधानमंत्री नियुक्त होने का सुअवसर प्राप्त हुआ। गणतंत्र के आविर्भाव के साथ ही हमारे देश में राजनीतिक जागृति के नये युग ने अपनी नींव डाली। अब राजनीतिक जागृति का स्वरूप किसी विदेशी आधिपत्य से लोहा लेना नहीं रह गया था अपितु अब राष्ट्रीय एकता, देश का अभिनव सृजन तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को मजबूत करना हो गया था।[2]

किसी भी देश के लिए स्वतन्त्रता प्राप्ति महज एक घटना नहीं होती, यह उस देश के लिए लोगों की अदम्य मुक्ति-कामना, संघर्ष और सामूहिक चेतना का प्रतिफल होती है। स्वतंत्रता के पीछे एक लम्बे संघर्ष का इतिहास रहता है

1. युगकवि स्वरूप - व्यक्तित्व एवं कृतित्व : राम मनोहर, पृ. 47
2. तदैव , पृ. 48

और यह संघर्ष उस देश की मानसिकता को एक नया अर्थ और आयाम देता है।

हमारे देश के लिए स्वतंत्रता प्राप्ति के दो अर्थ थे। एक ओर देश अंग्रेजों के शिकंजे से छूट रहा था दूसरे यहाँ पर राजतंत्र' के स्थान पर 'प्रजातंत्र' की स्थापना हुई थी। इस महान उपलब्धि का स्वागत देश की जनता को अत्यन्त उल्लास और उत्साह के साथ करना चाहिए था, परन्तु 'स्वतंत्रता' को दो कारणों से सहज रूप में ग्रहण नहीं किया जा सका। एक तो दूसरे महायुद्ध के बाद हमारे लिए यह स्वाधीनता की उपलब्धि बहुत कुछ आकस्मिक रही। देश की जनता को उस पर विश्वास न था। इसके अतिरिक्त देश की विभाजन की स्थिति, सम्बद्ध रक्तपात, उत्पीड़न, अत्याचार, अमानुषिक व्यवहार ने हमारी सारी संवेदनाओं को कुण्ठित कर दिया था।[1]

जन साधारण ने स्वतंत्रता के मूल में बहुत से स्वप्न और सिद्धान्त संजो रखे थे। उसे नये वातावरण में नये 'सूर्य' को तलाश थी जो बिना किसी भेदभाव के सबको आलोकित कर सके। क्योंकि 'भारतीय स्वतंत्रता का अर्थ है- सामंतवाद, साम्राज्यवाद, आर्थिक और सामाजिक शोषण से मुक्त भारतीय मानव की प्रतिमा स्थापित करना।'[2] इस स्थापना के लिए आवश्यक था कि हम झण्डा बदलने के साथ-साथ व्यवस्था में भी आमूल-चूल परिवर्तन करते। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। वास्तव में हमारे बरसों के आदर्शपूर्ण जन-आनदोलन की परिणति ऐसे ढुलमुल समझौते में हुई जिससे हमें नाममात्र की ही मुक्ति मिल

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास : राजेश्वर चतुर्वेदी , पृ. 84
2. युगकवि स्वरूप - व्यक्तित्व एवं कृतित्व : राम मनोहर, पृ. 49

सकी। जिस व्यवस्था के विरुद्ध हम संघर्षरत थे हमें उसी व्यवस्था को तिनके की तरह ग्रहण करना पड़ा।

जब राष्ट्रीय परिदृश्य इतना उथल-पुथल भरा था, तब भारती प्रेम की कोमल-कांत पदावली में आकंठ डूबे हुए थे। उनकी कालजयी कृति 'गुनाहों का देवता' सन् 1949 में ही प्रकाशित हुई थी। सन् 1950 में भारती प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक हो गए। अभी वे पूरे 25 वर्ष के भी नहीं हुए थे। यानी घोर युवावस्था में ही वे युवाओं के गुरु बन गए। 'गुनाहों का देवता' उन दिनों कॉलेज में अध्ययनरत छात्र-छात्राओं का सबसे प्रिय ग्रंथ था। इसी कारण वे जल्दी ही प्रयाग विश्वविद्यालय के सबसे लोकप्रिय प्राध्यापक बन गए।

देश उन दिनों अपने संक्रमणकाल में था। हर प्रबुद्ध नागरिक यह अनुभव कर रहा था कि उसे देश के नवनिर्माण में अपना योगदान देना चाहिये। इसी अनुभूति ने भारती को भी इलाहाबाद की विश्वविद्यालयेत्तर गतिविधियों में सक्रिय भूमिका निभाने के लिए प्रेरित किया। परिमल जैसी साहित्यिक संस्था के गठन का विचार इसी प्रेरणा से उत्पन्न हुआ। उन दिनों 'परिमल' को इलाहाबाद की धड़कन माना जाता था। सामाजिक सरोकारों से जीवन्त जुड़ाव रखने वाले उनके लेखन का सिलसिला निरन्तर जारी रहा। अध्यापन से ज्यादा आनन्द उन्हें पत्रकारिता में आने लगा था। इसी की परिणिति ने उन्हें धर्मयुग तक पहुंचाया।[1]

1. भारती की साहित्य यात्रा : डॉ. एस.डी. अष्ठाना, पृ. 45

सामाजिक परिस्थितियाँ

समाज और व्यक्ति एक दूसरे के पूरक और सहगामी है तथा उनका सहअस्तित्व अविच्छिन्न है। - 'कोई भी व्यक्ति अपने आप में अलग-अलग द्वीप जैसा नहीं होता, हर व्यक्ति महाद्वीप का एक अंग, पूर्ण का एक अंग होता है।'[1]

स्वाभाविक है कि अपने जन्मकाल से ही व्यक्ति परिवेश और संसार से प्रभावित होता है तथा एक सामाजिक इकाई बन जाता है। इस प्रकार विशिष्ट काल और इतिहास के परिवेश ने व्यक्ति को विशिष्ट मानसिकता और सामाजिकता प्रदान की है। 'मनुष्य की चेतना उसके सामाजिक अस्तित्व से ही निर्धारित होती है।'[2]

मनुष्य का सामाजिक अस्तित्व जड़ीभूत प्रतिमानों की देन नहीं है अपितु परिवेशगत परिवर्तन और तज्जन्य संघर्षो से विनिर्मित व परिचारित रहता है। समाज का अर्थ मात्र व्यक्तियों का समूह नहीं है। बल्कि 'सामाजिक परिवेश के प्रमुख अंग है- वर्ग व्यवस्था, सांस्कृतिक प्रवृत्तियां, धर्म दर्शन, कला आदि।'[3]

भारती ने परतंत्रता के कष्टों को भोगने के बजाय पढ़कर ज्यादा जाना। उन्होंने गुलामी का अवसान काल ही देखा वह भी बचपन में। जब वह युवा हुए तब देश आजाद हो चुका था। इसीलिए उनका युवा मन क्रांति के बजाय प्रेम से ज्यादा प्रभावित हुआ।[4] यही युवा जब परिपक्व हुआ तो उसने पाया कि वह तो

1. इतिहास क्या है ? : अशोक चक्रधर , पृ. 23
2. साहित्य का समाज शास्त्र : डॉ. नगेन्द्र, पृ. 6
3. तदैव , पृ. 8
4. भारती के प्रेरणा स्त्रोत : रवीन्द्र त्यागी (संडे मेल में प्रकाशित लेख)

एक निहायत ही अस्त-व्यस्त समाज का हिस्सा बना हुआ है। भारतीय समाज उन दिनों मंडन से ज्यादा विखंडन में रत था।[1] निस्सन्देह ये वे दिन थे जब अनेक सामाजिक कुप्रथाएं खत्म हो रही थीं, किन्तु साथ ही साथ अनेक सामाजिक मूल्य भी टूट रहे थे, आस्थाएँ दरक रही थीं, परिवार विखंडित हो रहे थे और सबसे ज्यादा खंडित हो रहा था मानव का मानव के प्रति विश्वास। इस टूटन को भारती ने निकट से देखा ही नहीं बल्कि स्वयं जिया भी।

कहते हैं कि उनका पहला प्रेम विफल हो गया। इसमें कितनी सत्यता है पता नहीं, किन्तु यह सर्वविदित है कि भारती का पहला विवाह जो प्रेम विवाह था, विफल हो गया। दूसरा विवाह किया। यह आजन्म चला। कहने का आशय यह कि जिस तरह स्वातंत्र्योत्तर समाज में टूटने और जुड़ने का दौर अनवरत चल रहा था, ठीक वैसा ही दौर भारती के जीवन के प्रथमार्द्ध में अनवरत चलता रहा। इसमें बम्बई पहुंचकर ही कुछ ठहराव आया।

परिवर्तन प्रक्रिया अपरिवर्तनीय है। परिवर्तन का अर्थ नवीन भाव-बोध, नवीन जीवन-मूल्य तथा जीवन पद्धतियों से है। इन परिवर्तित विचार स्त्रोतों, मूल्यों और पद्धतियों को जब साहित्यकार अपने चिन्तन तथा सृजन से सम्पृक्त कर लेता है तो उसकी सर्जना युग-इतिहास की साक्षी बन जाती है अन्यथा वह मात्र वाग्वैदग्ध्य बन कर रह जाती है। इस चिन्तन के ग्रहण और अभिव्यक्ति की नवीनता ही 'एज' या 'वाद' कहलाती हैं।[2] भारती के सम्पूर्ण लेखन पर और

1. युगकवि स्वरूप - व्यक्तित्व एवं कृतित्व : राम मनोहर, पृ. 49

2. युगकवि स्वरूप - व्यक्तित्व एवं कृतित्व : राम मनोहर, पृ. 50

उनकी समूची पत्रकारिता पर सामाजिक बने रहने का आग्रह और सामाजिक सरोकारों से कटने के बजाय उनसे संवाद करते रहने का प्रयास स्पष्ट परिलक्षित होता है।

राजनीतिक परिस्थितियाँ

भारती परतंत्र भारत में पैदा हुए। जब कुछ समझने लायक हुए तब द्वितीय विश्वयुद्ध चल रहा था। भारत छोड़ो आन्दोलन में उन्होंने खुद भी अपनी सामर्थ्यानुसार बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। जब वे यौवन की दहलीज पर चढ़े तब भारत को दासता के दीर्घ अभिशाप से मुक्त होते देखा। फिर यह भी देखा कि किस तरह नाथूराम गोडसे नाम के एक पागल उन्मादी ने राष्ट्रपिता की हत्या कर भारत को पूरे विश्व में कलंकित कर दिया।

नेहरू ने पंचशील के सिद्धान्तों की घोषणा की तब तक वे पूरी तरह परिपक्व हो चुके थे। सरकार योजनाएं अमली जामा पहन पाने में किस तरह विफल हो रहीं थीं इस त्रासदी को उन्होंने न केवल देखा बल्कि इसके कारणों को बारीकी से विश्लेषित भी किया। 1962 में जब चीन का आक्रमण हुआ तब वे धर्मयुग जैसी जिम्मेदार और प्रतिष्ठित पत्रिका के सम्पादक थे। उन दिनों धर्मयुग में उनके राजनीतिक विश्लेषणों का पाठकों को बेताबी से इंतजार रहता था। यही स्थिति 1965 में पाकिस्तान के आक्रमण के समय थी। ताशकन्द समझौते ने जिस तरह लाल बहादुर शास्त्री जैसे ईमानदार राजनेता की बलि ले ली उसे भी उन्होंने एक जिम्मेदार पत्रकार के नज़रिये से देखा। भारतीय राजनीति पर इंदिरा गांधी का उदय कैसे हुआ इसके पूरे घटनाक्रम के वे निकटतम साक्षी थे।

सन् 1971 के युद्ध को उन्होंने जिस तरह स्वयं युद्धभूमि में रहकर अपने पाठकों तक पहुंचाया वह एक अलग ही इतिहास है।

सन् 1975 में आपातकाल को लागू होते और आपातकाल के दौरान राजनीतिक नेताओं और आम जनता पर होते अत्याचारों को भी उन्होंने देखा, यह अलग बात कि किन्हीं कारणों के चलते इस मुद्दे पर उनका पत्रकार आपातकाल के दौरान उतना धारदार न हो सका जितना उन जैसे संवेदनशील पत्रकार से अपेक्षा की जाती थी। लोकनायक जयप्रकाश नारायण के मार्गदर्शन में 1977 में जनता पार्टी का गठन हुआ, तमाम विरोधी दल एक झण्डे के नीचे आ गए, चुनाव में कांग्रेस को करारी शिकस्त मिली, राजनीति में कुछ लोगों की नज़र में विदूषक माने जाने वाले राज नारायण के हाथों इंदिरा गांधी को मुँह की खानी पड़ी, मोरारजी देसाई प्रधानमंत्री बने, दोहरी सदस्यता के मुद्दे पर विवाद हुआ तो जनसंघ घटक ने जनता पार्टी से अलग होकर भारतीय जनता पार्टी बना ली, फिर चुनाव हुए, फिर कांग्रेस की सरकार बनी, फिर इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री बनीं, अपने ही रक्षकों के हाथों उनकी हत्या हुई, राजीव गांधी विशाल बहुमत से जीतकर प्रधानमंत्री बने, उनके अपने ही मंत्री विश्वनाथ प्रताप सिंह ने बगावत की तो एक बार फिर कांग्रेसी सरकार का पतन हुआ, विश्वनाथ प्रताप सिंह प्रधानमंत्री बने, राजीव गांधी भी आतंकवादी हिंसा की बलि चढ़ गए। ये वे प्रमुख राजनीतिक घटनाएं हैं जिन्हें भारती ने तटस्थ दृष्टि से केवल घटते हुए नहीं देखा, वरन् उनके घटने के कारणों की मीमांसा करते हुए और कई बार तो स्वयं उनके घटने का कारण बनते हुए अपनी लेखनी को

विशाल भारतीय जनमानस से सम्पृक्त किया। इन राजनीतिक परिस्थितियों ने भारती के लेखक को तो कम किन्तु उनके पत्रकार को बेहद प्रभावित किया। धर्मयुग के तमाम अंक इसके साक्षी हैं। इंदिरा गांधी की हत्या और उसके बाद चले हिंसा के ताण्डव ने भारती का बहुत ही विचलित किया। उन्होंने धर्मयुग के माध्यम से ऐसी हिंसा का निरन्तर पुरजोर विरोध करते हुए इसके पीछे खड़े लोगों को बेनकाब करने में भी कोई कोताही नहीं की।

सांस्कृतिक परिस्थितियाँ

स्वातंत्र्योत्तर काल भारत में सांस्कृतिक संक्रमण का काल रहा है। 'जिस पीढ़ी ने स्वतन्त्रता के पश्चात् जन्म लिया और जो स्वतन्त्रता के पश्चात ऐसे सामाजिक पर्यावरण में वयस्क हुई है जिसमें एक ओर स्वार्थ, भ्रष्टाचार और अनीति का बोलबाला है, दूसरी ओर वैचारिक और सैद्धान्तिक अराजकता पनपती गई है उसने पुरातन मूल्यों के प्रति तीव्र आक्रोश व्यक्त किया हैं। यह आक्रोश देश के गलत और गलित राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक सन्दर्भो की देन है। उचित नेतृत्व और सही मार्गदर्शन के अभाव में यह आक्रोश प्राय: गलत रास्तों पर भटक जाता है। क्योंकि चारित्रिक पवित्रता, त्याग, सेवा, आस्था, प्रेम, विश्वास, आदर्श, धर्म आदि शब्द आज अपना मूल्य खो चुके हैं। नई पीढ़ी को इनमें विश्वास नहीं रह गया है क्योंकि स्वयं शब्दों को सार्थक बनाने वाले ही आज उसका मखौल उड़ा रहे हैं। जीवन में जागरूक पीढ़ी को अधिक दिनों भरमाया नहीं जा सकता।'[1]

1. युगकवि स्वरूप - व्यक्तित्व एवं कृतित्व : राम मनोहर, पृ. 51

समाज के उच्च वर्ग और निम्न वर्ग की मानसिकता में स्वतन्त्रता के बाद कोई खास बदलाव नहीं आया है। लेकिन मध्य वर्ग पर परिवर्तन का दबाव अधिक रहा है। इस दबाव के परिणामस्वरूप मध्य वर्ग के दो टुकड़े हो गये हैं। एक टुकड़ा आवश्यक रूप से पाखण्डी है और दूसरा आशातीत रूप में चिन्तित और भयाक्रान्त। इसके बीच मध्य वर्ग का एक बहुत बड़ा हिस्सा है जो जीवन के परिवर्तन की हर दिशा को केवल स्वीकार करना जानता है, वह किसी रूप में संलग्न नहीं है।[1]

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय जन-जीवन में पाश्चात्य सभ्यता का दबाव बढ़ रहा है, सांस्कृतिक परम्पराओं और मूल्यों के प्रति उपेक्षा का भाव विकसित हुआ है 'भारतीय मुद्रा का अवमूल्यन तो बाद में हुआ, भारतीय संस्कृति का अवमूल्यन स्वतन्त्रता के बाद तुरन्त ही हो गया।'[2]

आधुनिक परिवार की अवधारणा अब केवल पति-पत्नी तथा नाबालिग सन्तानों तक सीमित रह गयी है। संयुक्त परिवारों में प्रत्येक व्यक्ति अधिकतम विकास नहीं कर सकता, न प्रत्येक व्यक्ति अधिकतम स्वतंत्रता का भोग कर सकता है। परिवार मर्यादा पर चलते हैं और अपनी सम्भावनाओं के प्रति जागरूक व्यक्ति केवल मर्यादा के लिए अपना जीवन एक घेरे में बन्द नहीं कर सकता।

समाज में व्यक्तिवादी प्रवृत्ति विकसित हुई है जिसमें तालमेल न बिठा

1. युगकवि स्वरूप - व्यक्तित्व एवं कृतित्व : राम मनोहर, पृ. 49
2. कुछ चन्दन की कुछ कपूर की : विष्णुकान्त शास्त्री, पृ. 230

सकने के कारण संयुक्त परिवारों का विघटन हो रहा है। संयुक्त परिवारों के विघटन से सम्बन्धों में तनाव और परिवर्तन का स्वर मुखर हुआ है और सम्बन्धों की टूटन ने जीवन-मूल्यों के संक्रमण में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। परम्परागत पारिवारिक संदर्भो में बदलाव के परिणाम स्वरूप मूल्यों में परिवर्तन स्वाभाविक है। नेहरू केन्द्रित इस दौर में सभी कुछ उचित नहीं था, वस्तुतः नेहरू की चकाचौंध में वास्तविकता कुछ समय के लिये दृष्टि से ओझल हो गई।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् मोह भंग की मारक पीड़ा ने युवा पीढ़ी को झकझोर डाला। तथाकथित जन-सेवकों के चक्रव्यूह में फँसकर वह छटपटाहट महसूस करने लगी। मैकाले की शिक्षा पद्धति ने बेरोजगारों की जो भीड़ बढ़ाई उसने भी सांस्कृतिक अधःपतन में अहम् भूमिका निभायी। दिग्भ्रमित और दिशाहीन युवा पीढ़ी पश्चिम के अंधानुकरण में अपनी जड़ों से कटती चली गई। देश में नवधनाढ्यों का एक नया वर्ग विकसित हुआ। इस वर्ग के पास न तो उसकी अपनी कोई सोच थी न कोई सिद्धान्त। अनायास हासिल हो गए धन के प्रदर्शन की लालसा ने देश में जुआघरों, मयखानों, कैब्रे जॉइन्ट और ऐसे ही अनेक ठिकाने पैदा कर दिये जहाँ लोग केवल धन उड़ाने के लिए ही जाते हैं। अपने ही बिखराव को समेटने में लाचार दम्पती अपनी संतानों की ओर ध्यान क्या देते? परिणाम यह हुआ कि संस्कारवान और सुविचारित युवा पीढ़ी के स्थान पर विकृत सोच वाली, नशे में डूबी ऐसी युवा पीढ़ी दृष्टिगत हुई जिसके सामने सबसे बड़ी समस्या सिर्फ यह है कि उसका समय कैसे कटे और धन कैसे खर्च हो ? भारती को इस स्थिति से बेहद पीड़ा थी। उन्होंने लेखक के तौर पर

भी और पत्रकार के तौर पर इस बात की हरसंभव कोशिश की कि राजनेता, साहित्यकार, अध्यापक और अभिभावक अपने दायित्वों के प्रति सजग हों और युवा पीढ़ी के सामने ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करें जिससे यह पीढ़ी भटकाव से मुक्ति पा सके।

साहित्यिक परिस्थितियाँ

भारती का बचपन जब पीछे छूट रहा था तब हिन्दी साहित्य में छायावाद भी अस्ताचल की ओर अग्रसर हो रहा था। छायावाद के श्रेष्ठ कवियों की दृष्टि स्थूल के विस्तार पर फिसलने के स्थान पर सूक्ष्म की गहराई पर उतरना चाहती थी। इसलिए छायावाद की कविता जहां अनुभूति के सघन और संश्लिष्ट बिम्ब तथा भावप्रेरित सूक्ष्म लाक्षणिक अभिव्यक्ति के कारण उच्चतम स्तर पर प्रतिष्ठित हो जाती है वहां अन्यथा होने पर मिथ्या और अमूर्त प्रभाव से ग्रस्त होकर रह जाती है।[1] छायावाद में व्यक्ति की अनुभूति की तीव्रता क्रमशः कुन्द प्रभाव पैदा करने, दुःख, हास-रुदन, आशा-निराशा के फार्मूलों में बदलती गई और अनुभव की प्रामाणिकता तथा वैशिष्ट्य के स्थान पर एक प्रकार का कोहरा फैलता गया जिसमें कोई शक्ल उभरती लक्षित नहीं होती।[2]

सन् 1936 में छायावादी दौर ह्रास की ओर उन्मुख हुआ तथा इस वाद का पराभव आरम्भ हुआ। 1940 के आसपास विशाल भारत में प्रकाशित अपने एक लेख में इलाचन्द्र जोशी ने यह स्थापना की कि छायावाद मर गया है। बाद में 1938

1. छायावाद : डॉ. रवीन्द्र भ्रमर, पृ. 171
2. हिन्दी कविता-आधुनिक आयाम : डॉ. रामदरश मिश्र, पृ. 37

में देवराज की 'छायावाद का पतन' नामक कृति भी प्रकाशित हुई। सन् 1938 के 'रूपाभ' के सम्पादकीय में पन्त ने भी घोषित किया- 'इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं लग सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण सामग्री ग्रहण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है और युग-जीवन ने उसके चिर-संचित सुख-स्वप्नों को जो चुनौती दी है उसको उसे स्वीकार करना पड़ रहा है।'[1]

छायावाद की परिसमाप्ति के लक्षण चौथे दशक के प्रारिम्भक वर्षों में ही प्रकट होने लग गये थे। उसके चुक जाने की साफ गवाही मिलने लगी और समकालीन परिवेश में उसकी कोई प्रासंगिकता नजर नहीं आ रही थी।[2]

अपनी अन्तर्मुखी चेतना, बाह्य जगत के प्रति निष्क्रियता के कारण इस वाद का जनमानस के हृदय पर स्पष्ट एवं स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सका। शैली की दुरूहता के कारण यह और भी दुर्बोध हो गया। आलोचकों का ध्यान इसके भाषागत सौन्दर्य, पलायनवृत्ति एवं स्वप्न लोक में विहार के प्रति ही आकृष्ट हुआ। इस वाद की इसी कमजोरी के कारण निराला और पन्त आगे चलकर प्रगतिवाद की ओर झुक गये। इस वाद की समाप्ति के कारणों में वैयक्तिकता, बौद्धिकता एवं कल्पना की अतिशय प्रधानता है।[3]

सन् 1936 के आस-पास छायावाद का सूर्य साहित्याकाश से अस्तोन्मुखी हो गया। उसके अप्रासंगिक हो जाने के कारण पर प्रकाश डालते हुए छायावाद के स्तम्भ पंत लिखते हैं-छायावाद इसलिए अधिक समय तक नहीं रहा कि उसके

1. रूपाभ (जुलाई 1938) : सम्पादक-सुमित्रानन्दन पंत, सम्पादकीय
2. कविता और संघर्ष चेतना : यश गुलाटी , पृ. 5
3. काव्यकला और दर्शन : डॉ. प्रतिमा जैन, पृ. 35

पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शो का प्रकाशन,नवीन भावना का सौन्दर्य बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर अलंकृत संगीत बन गया।

वस्तुतः इस परिवेशगत परिवर्तन के अनुकूल छायावादी काव्य में परिवर्तन होना स्वाभाविक और अनिवार्य था। एक नई सामाजिक चेतना और भाव-बोध मार्क्सवादी दर्शन के आलोक में जन्म ले रही थी। सन् 1936 के आसपास छायावाद के विरोध में स्वर गूंजने लगे थे। सर्वथा नए ढंग की रचनाएं सामने आने लगीं। इन्हीं के लिए प्रगतिवादी शब्द का प्रयोग किया गया। ये रचनाएं धीरे-धीरे बल पकड़ती रहीं और सन् 1946 के आस-पास तक उन्हीं की धूम रही। विद्धानों ने सन् 1933 से लेकर सन् 1939 के मध्य की इस अवधि को ही प्रगतिवादी युग कहा है। छायावादी रहस्यवाद की अति सूक्ष्मता, काल्पनिकता आदि के विरुद्ध आगे चलकर समाजवाद के प्रभाव से प्रगतिवादी कवियों ने जनजीवन की यथार्थ भावनाओं को व्यक्त करना आरम्भ किया।

रीतिकालीन शृंगार भावना एवं समाजवादी विचारधाराओं के विरोध को इस काव्य में सरल किन्तु ओजस्वी भाषा में अभिव्यक्ति किया गया। निराला, दिनकर, भगवतीचरण वर्मा आदि भी इस ओर मुड़े। इस युग के कवियों में शिवमंगल सिंह 'सुमन', 'रांगेय राघव' रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' गिरिजा कुमार माथुर, नागार्जुन, मुक्तिबोध, भवानी प्रसाद मिश्र, शमशेर, महेन्द्र भटनागर,रामविलास शर्मा आदि से इस काव्य धारा को विशेष बल मिला।[1]

1. युगकवि स्वरूप - व्यक्तित्व एवं कृतित्व : राम मनोहर, पृ. 60

सन् 1935 से प्रगतिवादी युग आरम्भ होता है। प्रगति का अर्थ ही होता है आगे को बढ़ता और यह प्रगति साहित्य जगत में नये भावों का बोधक हुई। भावभूमि और कला भूमि दोनों स्तरों पर अभूतपर्व क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए।[1] इस परिवर्तन के पीछे मार्क्सवादी विचारधारा काम कर रही थी। प्रगतिवादी साहित्य मार्क्सवादी विचारधारा को अपना आधार मानकर रचा गया था।

मार्क्सवादी विचाराधारा के अनुसार विषमता का मूल कारण आर्थिक विषमता है। इसी पूंजीवादी अर्थ प्रणाली ने समाज में शोषक और शोषित वर्गों को जन्म दिया है। परिणामस्वरूप प्रगतिवादी साहित्य में सामाजिक न्याय, समता और वर्ग हीनता का स्वर गूंजने लगा। इस प्रबल और व्यापक स्वर के प्रभाव से सारा हिन्दी साहित्य प्रभावित हुआ।

सन् 1939 में लखनऊ में 'भारतीय प्रगतिशील संघ' की स्थापना हुई जिसमें प्रेमचन्द्र ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था- 'साहित्यकार या कलाकार स्वभावत: प्रगतिशील होता है। अगर उसका यह स्वभाव न होता तो शायंद वह साहित्यकार ही न होता। उसे आदर की एक कमी मालूम होती है और बाहर की इस कमी को पूरा करने के लिए उसकी आत्मा बेचैन रहती है। अपनी कल्पना में वह व्यक्ति और समाज को शुरू और स्वछन्दता की जिस अवस्था में देखना चाहता है वह उसे दिखाई नहीं देती। इसलिये वर्तमान मानसिक और सामाजिक अवस्थाओं में उसका दिल कुढ़ता रहता है। वह इन अप्रिय व्यवस्थाओं का अन्त कर देना चाहता है जिससे दुनिया में जीने और मरने के लिए उससे अधिक अच्छा स्थान

1. छायावाद युग : शम्भूनाथ सिंह, पृ. 348

हो।' अपनी विशिष्ट उपलब्धियों के बावजूद धीरे-धीरे यह काव्य धारा मंद होती गई और सन् 1943 तक विलुप्त हो गई।

प्रगतिवाद साहित्य में अल्पजीवीवाद रहा। यद्यपि इस वाद ने साहित्य के चिंतन को नव्यभूमि प्रदान की तथापि संकीर्ण धरातल और राजनीतिक दृष्टिकोण को ही प्रामाणिकता देने के कारण वह अपनी ऊर्जा से विरहित हो गया। कला के क्षेत्र में कला के प्रति उपेक्षा का भाव लम्बे समय तक नहीं चल पाता है। कला न राजनीति से अस्पृश्यता का व्यवहार करती है और न उसे विशिष्टता ही प्रदान करती है। सन् 1943 के आस-पास कविता का जो नया रूप पनपा और जो सन् 1948 तक सुपुष्ट होता रहा वही प्रयोगवाद कहलाया। यद्यपि तार सप्तकों का प्रकाशन सन् 1979 तक होता रहा, किन्तु प्रयोगवादकी प्रभाव सीमा सन् 1943 से 1948 तक ही विद्धानों ने निर्धारित की है। बाद के तार-सप्तकों में कविता के उसी रूप की सन् 1943 से 1948 के बीच सामने आने वाले रूप की पुष्टि हुई है। बाद के तार-सप्तकों की महत्ता इसी तथ्य तक सीमित है, उसके आगे वह नहीं जाती। तार सप्तक 1943 के प्रकाशन के पश्चात हिन्दी कविता में एक नया मोड़ आया।[1]

प्रयोगवादी कवि अन्वेषण के कवि थे। वह प्रयास अधिकतर कलावाद पर ही अधिक आधारित था, जिससे शिल्प सम्बन्धी अनेक प्रयोग हुए। प्रयोगवाद जब समय की गति के अनुसार न चल सका तो 1954 में नयी कविता का उदय हुआ जो स्वतंत्रता के बाद की आस्था, अनास्था, दुःख और भविष्य के स्वप्निल रंगों की

1. युगकवि स्वरूप - व्यक्तित्व एवं कृतित्व : राम मनोहर, पृ. 53

कविता थी। इस कविता ने ऊपर से तड़क-झड़क तो बहुत दिखाई किन्तु अन्दर-अन्दर यह भी छायावाद का ही अनुगमन करती रही और इसने भी अपना एक संकीर्ण काव्य संसार बना लिया जो धीरे-धीरे वास्तविक संसार से दूर होने लगा।

सन् 1962 में चीनी आक्रमण से भारत में नये युग प्रारम्भ हुआ जिसे नामवर सिंह ने 'मोह भंग का काल' कहा है। नई कविता के बारे में अनेक प्रश्न पैदा हुए। वह मानव-जीवन की जटिलताओं को अभिव्यक्ति देने में अपने को असमर्थ पा रही थी। इसीलिये मुद्रा राक्षस ने नई कविता के कवियों को 'मेटागाग' कहा। 'मेटागाग' का अर्थ उससे है जो अपनी कही हुई बातों पर आचरण नहीं करता। इसी तरह नई कविता के कवि भी रहे जो 'पराई जूठन और टूटन' के कवि ही रह गए। श्याम विमल का भी यही मत है कि साठ के पूर्व की कविता अन्वेषण के क्षेत्र में नवीनता, मुक्त यथार्थवाद, बौद्धिकता एवं क्षणवाद के जिन तत्वों को लेकर लिखी गई उससे यह नितान्त वैयक्तिक, बेमतलब, नग्न और निराशावादी होती गई। जगदीश चतुर्वेदी की राय में नई कविता, बिरहा गाने वाली छायावादी भेद सी है तो प्रभाकर माचवे के अनुसार आशीर्वाद की मूर्च्छना है। स्वयं नई कविता के कवि समीक्षक ही उसकी युगीन वास्तविकता की ओर उंगली उठाने लगे।[1]

सन् 1960 से 72 तक का समय हिन्दी साहित्य में एक निर्णायक काल कहा जा सकता है। इन 12 वर्षो में हिन्दुस्तान में जितने राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा वैज्ञानिक परिवर्तन हुए उतना ही परिवर्तन साहित्यिक रंगमंच पर

1. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी काव्य : डॉ. रामगोपाल सिंह चौहान, पृ. 6

हुआ। सन् 60 के पश्चात् इस बदलाव को सभी कवि समीक्षक स्वीकारते हैं, वैसे इस नई संवेदना की शुरूआत 1958 में नरेश मेहता और श्रीकान्त वर्मा के संपादकत्व में 'कृति' के प्रकाशन से ही हो गई थी जिससे 'नवलेखन' को शुरूआत मानी जाती है और जो नई कविता से अपना अलगाव घोषित करता है। नई कविता के बाद हिन्दी साहित्य में किसी नये वाद का आविर्भाव तो नहीं हुआ किन्तु गद्य और पद्य दोनों ही विधाओं में सामान्यजन सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो उठा। इन दिनों के अधिकांश लेखन में यथार्थपरकता पर विशेष बल दिया गया।

0 0 0

द्वितीय अध्याय

धर्मवीर भारती की जीवनरेखा

द्वितीय अध्याय

धर्मवीर भारती की जीवन रेखा

वंश परम्परा - डॉ. धर्मवीर भारती की कुल परंपरा का विस्तृत परिचय तो कहीं उपलब्ध नहीं है। जब भारतीजी जीवित थे तब वे स्वयं भी इस विषय में ज्यादा जानकारी उपलब्ध नहीं करा पाते थे। उनके बाबा ने 'मलिका विक्टोरिया के जमाने में एक मकान बनवाया था जिसमें सबसे ऊपर लिखवाया था 'ॐ सत्यमेव जयते नानृतम्' और इसके ठीक नीचे लिखवाया था - दिल्लीश्वरी वा जगदीश्वरी वा।'[1] भारतीजी के बाबा शाहजहाँपुर के निकट खुदागंज नामक एक कस्बे के जमींदार थे।[2]

भारती के पिता चिरंजीलाल वर्मा ने रुड़की से इंजीनियरिंग की परीक्षा उत्तीर्ण की। तत्कालीन सामाजिक स्थिति के अनुसार यह एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। कुछ दिनों तक वर्मा में सरकारी नौकरी और ठेकेदारी करने के बाद वे भारत वापस लौट आये। यहाँ आकर वे कुछ समय तक मिर्जापुर में रहे और फिर इलाहाबाद आ गये जहाँ वे स्थायी रूप से बस गए। आपकी माता का नाम श्रीमती चन्दादेवी था। इलाहाबाद (प्रयाग) में अतरसुइया मोहल्ले के मकान नम्बर 428 में रहता था। मोहल्ले का नाम वस्तुतः अत्रि-अनुसूया था जो

1. ठेले पर हिमालय : धर्मवीर भारती , पृ. 131
2. धर्मवीर भारती - व्यक्ति और साहित्यकार : डॉ. पुष्पा वास्कर, पृ.17

कालान्तर में अपभ्रंश होकर अतरसुइया नाम से जाना जाने लगा।

जन्म एवं शिक्षा - धर्मवीर भारती का जन्म सन् 1926 में ईसामसीह के जन्म वाले दिन अर्थात 25 दिसम्बर को हुआ। बचपन के दो-एक वर्ष पिताजी के साथ आजमगढ़ एवं मऊनाथ में व्यतीत हुए। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। औपचारिक शिक्षा के लिए कक्षा चार में इलाहाबाद के डी.ए.वी. हाईस्कूल में दाखिला लिया।[1] जीवन के अगले चार वर्ष सामान्य गति से चले। जब ये आठवीं कक्षा में थे तभी पिताजी का स्वर्गवास हो गया। दु:ख से यह उनका पहला परिचय था। पिता की मृत्यु के बाद पारिवारिक स्थिति डाँवाडोल होना स्वाभाविक ही था। मामा अभयकृष्ण जौहरी इलाहाबाद में ही रहते थे, उन्होंने इस परिवार को अपने आश्रय में ले लिया। उन्हीं की प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं छत्रछाया में भारती का अध्ययन निर्बाध गति से जारी बना रहा। सन् 1942 में कायस्थ पाठशाला से इंटरमीडिएट की परीक्षा उत्तीर्ण की।[2] यह भारत छोड़ो आन्दोलन का वर्ष था। इस आन्दइोलन में सक्रिय हिस्सेदारी करने के कारण भारती को अपना अध्ययन एक वर्ष के लिए स्थगित करना पड़ा। अगले वर्ष सन् 1943 में आपने प्रयाग विश्वविद्यालय में दाखिला लिया। सन् 1945 में बी.ए. की परीक्षा में विश्वविद्यालय में सबसे ज्यादा अंक पाकर 'चिंतामणि घोष मंडल' पुरस्कार प्राप्त किया। दो वर्ष बाद 1947 में स्नातकोत्तर उपाधि भी प्रथम श्रेणी में प्राप्त की। इसी दौरान वे डॉ. धीरेन्द्र वर्मा के सम्पर्क में आये। वर्माजी

1. धर्मवीर भारती : साहित्य के विविध आयाम : डॉ. हुकुमचन्द राजपाल, पृ. 14
2. तदैव

आस्थावान आर्यसमाजी थे, भारती पर उनका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। भारती स्वयं अपनी कृति 'मानव मूल्य और साहित्य' वर्माजी को समर्पित करते हुए लिखते हैं कि - 'अपने परम आदरणीय आचार्य डॉ. धीरेन्द्र वर्मा को, क्योंकि उन्हीं के सम्पर्क से निर्भीक चिन्तन का मूल्य जान सका हूँ।' वर्माजी के निर्देशन में ही भारती ने सिद्ध साहित्य पर शोध किया और पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त की।[1] इस प्रकार भारती की शिक्षा का औपचारिक दौर सपाप्त हुआ। आपका शिक्षाकाल संघर्षों के बावजूद उपलब्धियों भरा रहा।

जीविकोपार्जन - भारती ने पिता की मृत्यु के बाद अल्पवय से ही आमदनी के लिए श्रम प्रारम्भ कर दिया था। जब आप बी.ए. में पढ़ रहे थे तब बच्चों को ट्यूशन पढ़ाने लगे थे। एम.ए. में अध्ययन के दौरान पद्मकान्त मालवीय के पत्र 'अभ्युदय' में अंशकालीन नौकरी की। सन् 1948 में इलाचन्द्र जोशी के पत्र 'संगम' में सहायक सम्पादक नियुक्त हो गए। यहाँ इस दायित्व को उन्होंने लगातार दो वर्षों तक संभाला। तदुपरान्त प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के प्राध्यापक पद पर आपकी नियुक्ति हो गई। यह नौकरी उन्होंने लगातार बारह वर्ष तक की। सन् 1960 में आपके जीवन का निर्णायक मोड़ आया और आप धर्मयुग के सम्पादक होकर बम्बई पहुँच गये।[2] तीन दशकों से भी अधिक समय तक इस दायित्व को अत्यन्त कुशलतापूर्वक निभाते हुए आपने अवकाश ग्रहण किया। दायित्वमुक्ति के बाद भी आप धर्मयुग में 'शब्दिता'

1. अंधायुग- एक शैलीवैज्ञानिक अनुशीलन : डॉ. कमलेश त्रिवेदी , पृ. 12

2. धर्मवीर भारती साहित्य के विविध आयाम : डॉ. हुकुम चन्द्र राजपाल, पृ. 14

नामक स्तम्भ जीवनपर्यन्त लिखते रहे ।

दाम्पत्य जीवन और सन्तति - धर्मवीर भारती का पारिवारिक जीवन अपेक्षाकृत कठिन और मुश्किलों भरा रहा । उनके प्रेम और दाम्पत्य सम्बन्धों को लेकर अटकलों, अनुमानों और अफवाहों का बाजार सदैव गर्म बना रहा । उनके साहित्य के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता रहा कि युवावस्था में जिस किशोरी से उनका प्रेम हुआ वह विवाह में परिणित न हो सका ।[1] 'वह (भारती) अक्सर किसी निर्जन गुलाबी द्वीप, शिलाओं से बंधी किसी वंदिनी, उदासिनी जलपरी की कल्पना किया करता था, जिसे वह तलवारों से जंजीरें काटकर आज़ाद कर देगा । या फिर फैली-फैली मखमली बाजू पर दोनों रंगबिरंगी सीपियों और मूंगे-मोतियों से खेलेंगे जिन्दगी भर ।'[2] ऐसे ही एक साक्षात्कार में उनके ये उद्‌गार भी दृष्टव्य हैं- 'और रोमांस ! जब उम्र थी, भाई जान, तब आज का सा खुला वातावरण और सुविधाएँ न थीं । आज जब वातावरण अनुकूल है तब उम्र न रही । फिर भी तब, जब उम्र थी तब, जितना हो सकता था उतना करने की ईमानदारी से कोशिश तो की थी । लेकिन उन दिनों नारी स्वातंत्र्य जैसे अच्छे-अच्छे आन्दोलन कहाँ थे । तब तो ज्यादा से ज्यादा यही कह सकते थे कि सुनो इतनी अजीब किस्मत ले के पैदा हुए थे क्यों हम-तुम...... ।'[3] डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे का अनुमान है कि -'संभावना यही है

1.धर्मवीर भारती - व्यक्ति और साहित्यकार : डॉ. पुष्पा वास्कर , पृ. 22

2. दूसरा तार सप्तक , पृ. 177

3. कादंम्बिनी , जून 1973 , पृ. 71

कि यह पहला रोमांस या प्यार प्रयाग विश्वविद्यालय के अहाते में किसी अंबवा की छाया में पनपा होगा। शायद इसी कारण उनके प्रेम काव्य में अंबवा की डालें सघन रूप से छायी हुईं हैं।'[1]

यह अनुमान क्लिष्ट कल्पना पर आधारित है। इसके आधार पर किसी निष्कर्ष तक पहुँचना बड़े जाखिम का काम है, और उचित या नैतिक भी नहीं माना जा सकता। भारतीजी ने इन रहस्यों को कभी अनावृत नहीं किया। अलबत्ता इतना तो माना ही जा सकता है कि ऐसा कोई प्रणय प्रसंग उनके यौवनकाल में घटित अवश्य हुआ था। सामाजिक वर्जनाओं से घिरे प्रयाग जैसे धर्मभीरु शहर में ऐसे प्रसंगों का अधूरा रह जाना सहज सम्भाव्य है, परन्तु सामाजिक वर्जनाएँ भारती को बहुत अधिक विवश नहीं कर सकीं। उनका प्रथम विवाह इसका प्रमाण है, जो एक विजातीय कन्या से हुआ।

भारती का प्रथम विवाह कान्ता कोहली नामक एक पंजाबी युवती से हुआ। कुछ दिनों तक दाम्पत्य जीवन ठीकठाक चला। कान्ता ने एक बेटी को भी जन्म दिया। भारती का महत्वाकांक्षी मन अनन्त आसमान में उड़ान भरने को आतुर था, इसी आतुरता के चलते उनके मन-मदिर में पुष्पा शर्मा नामक एक अन्य युवती का प्रवेश हुआ। पति-पत्नी के बीच आयी इस 'वो' के कारण दाम्पत्य जीवन में जो दरारें पड़ीं उनकी परिणिति सम्बन्ध विच्छेद के रूप में ही हुई।[2]

इस पूरे प्रसंग को लेकर कान्ता भारती ने 'रेत की मछली' नामक बहुचर्चित

1. धर्मवीर भारती का साहित्य-सृजन कि विविध रंग : डॉ. चन्द्र भानु सोनवणे , पृ. 8
2. शब्दों का यायावर : अपर्णा खरे , दैनिक नई दुनिया , 4.9. 1998

उपन्यास की रचना की जिसे उनकी आत्मकथा माना जाता है। उपन्यास का नायक शोभन ही भारती हैं, ऐसा कहा जाता है। 'इस उपन्यास में वर्णित घटनाएँ कितनी सच हैं इस तथ्य को तो धर्मवीर भारती, कान्ता और पुष्पा के अलावा तीसरा कोई भी नहीं जान सकता, किन्तु यदि उनमें रंचमात्र भी सच्चाई है तो मुझे यह कहने में कोई हिचक नहीं है कि गुनाहों के देवता का यह सर्जक सचमुच गुनाहों के दलदल में आकंठ डूबा था। इस उपन्यास के दो प्रसंग तो बहुत ही शर्मनाक हैं, एक तो यह कि शोभन ने पत्नी को उस युवती के लिए त्यागा जिससे वह राखी बँधवाता था, दूसरे जब शोभन की पत्नी रोगशैया पर थी तब उसने जो अमानवीय व्यवहार किया वह सर्वथा अक्षम्य है। बहरहाल यह सच नितान्त वैयक्तिक हैं इसलिए हमें न्यायाधीश की तरह फैसला सुनाने का कोई हक नहीं है।[1]

कान्ता से अलगाव के बाद भारती ने पुष्पा शर्मा से विवाह रचाया। कान्ता से उत्पन्न पुत्री भारती के पास ही रही, इसका नाम है पारमिता। कुछ समय बाद कान्ता भी दूसरा विवाह रचाकर कान्ता पन्त बन गईं। पुष्पा के साथ भारती का दाम्पत्य सम्बन्ध जीवन भर सुखद रहा। पुष्पा भारती को धर्मवीर भारती के सानिध्य के कारण लिखने और छपने के भी भरपूर अवसर उपलब्ध हुए। लेखिका के रूप में उन्होंने कई विदेश यात्राएँ भी कीं। पुष्पा भारती किंशकु और प्रज्ञा को जन्म दिया। भारतीजी की तीनों सन्तानों ने अब अपना-अपना घर बसा लिया है। प्रज्ञा ने कुछ दिनों तक महिलाओं की प्रसिद्ध पत्रिका

1. शब्दों का यायावर : अपर्णा खरे , दैनिक नई दुनिया , 4.9. 1998

फेमिना के सम्पादकीय विभाग में भी काम किया। किंशुक सॉफ्टवेयर इंजीनियर होकर अमेरिका गया तो वहीं बस गया। बम्बई में जब भारतीजी ने स्वयं का मकान बनवाया तो उसका नाम रखा गया 'साहित्य सहवास'। पुष्पा भारती अभी भी इसी मकान में रह रही हैं। पता है- 5, शाकुंतल, साहित्य सहवास, बान्द्रा पूर्व, मुम्बई 51।

काव्य की प्रेरणा - प्रयाग का वातावरण तो वैसे ही साहित्यिक गतिविधियों के लिए सर्वथा अनुकूल रहा है, उस पर भारती जैसा रसज्ञ व्यक्ति इससे अछूता कैसे रह सकता था। अध्ययन के दौरान ही आपने विविध विधाओं में लेखन प्रारम्भ कर दिया था। मन की कोमल भावनाओं को अभिव्यक्त करने का सबसे उत्तम और सहज माध्यम कविता ही होती है, अत: भारतीजी ने भी इसी विधा को अपनाया। इसी बीच समाचारपत्र और पत्रिकाओं के सम्पादकीय विभाग से जुड़ जाने के कारण आपकी प्रतिभा को पुष्पित और पल्लवित होने का भरपूर अवसर भी मिला।

भारती ने जब कविता लिखना प्रारम्भ किया था उन दिनों छायावाद अपने चरमोत्कर्ष पर था। आलम यह था कि कोई भी नया कवि छायावाद से प्रभावित न हो यह सम्भव ही नहीं था। भारती जैसा युवा और भावप्रवण कवि भी यदि इस विचारधारा से प्रभावित हुआ तो यह स्वाभाविक ही था। इनकी प्रारम्भिक रचनाओं में छायावाद की रोमेन्टिक प्रवृत्ति का परिचय सहज रूप में मिल जाता है।[1] शुरूआत में आपकी रूमानी एवं प्रणयानुभूति वाली कविताएँ तत्कालीन

1. धर्मवीर भारती- साहित्य के विविध आयाम : डॉ. हुकूमचन्द्र राजपाल , पृ. 18

पत्रिकाओं में छुटपुट प्रकाशित होती रहीं। काव्य संकलन के रूप में भारती की कविताएँ सबसे पहले 'दूसरा सप्तक' (1951) में प्रकाशित हुईं। इसमें 'वक्तव्य' के अतिरिक्त इनकी 12 कविताएँ संकलित हैं। ये हैं - थके हुए कलाकार से, कवि और कल्पना, गुनाह का गीत, गुनाह का दूसरा गीत, तुम्हारे पाँव मेरी गोद में, उदास तुम, सुभाष की मृत्यु पर, एक फैंटेसी, बरसाती झोंका, यह दर्द, चुम्बन, जाड़े की शाम।[1]

भारती का स्वतंत्र रूप से प्रथम काव्य संग्रह था-'ठण्डा लोहा'। इसका प्रकाशन सन् 1952 में हुआ। इसके बाद अगला काव्य संग्रह था-'सात गीत वर्ष'। इसमें सन् 1952 से 1958 के बीच लिखी गईं कविताएँ संकलित की गईं थीं। इन दोनों काव्य संग्रहों में संकलित कविताएँ एवं इनके अलावा भी अनेक कविताएँ फुटकर रूप से विभिन्न पत्रिकाओं में छपती रहती थीं। हिन्दी की उस समय की प्रतिष्ठित मासिक पत्रिका 'कल्पना' ने भारती जी की कविताओं को निरन्तर प्रकाशित किया। इनमें मुनादी(अगस्त 1951), दो कविताएँ (सितम्बर 1953) तथा वह जो (नवम्बर 1959) विशेष उल्लेखनीय हैं। कविता लेखन का यह सिलसिला तमाम व्यस्तताओं के बीच भी ता-उम्र अनवरत रूप से जारी रहा। धर्मयुग के दीपावली विशेषाँक अक्टूबर 1979 में प्रकाशित कविता 'कदम पोखर' भारती के कवि रूप की निरन्तरता की द्योतक है।[2] भारती की प्रारम्भिक कविताओं में उनका भावुक और चिन्तक रूप एक साथ प्रस्फुटित

1. दूसरा सप्तक : सम्पादक-अज्ञेय
2. धर्मवीर भारती- साहित्य के विविध आयाम : डॉ. हुकूमचन्द्र राजपाल , पृ. 19

हुआ है इसलिए उन्हें विशुद्ध प्रयोगवादी कवि नहीं कहा जाा सकता।

'गुनाह का दूसरा गीत' कविता में कवि दैहिक प्रेम को पाप अथवा अभिशाप नहीं मानता, बल्कि उतना ही आवश्यक मानता है जितना कि जीने के लिए वायु। इस कविता में भारती ने वासना को ही जिन्दगी का माप माना है। वे वासना को जीवन का अपरिहार्य अंग मानते हैं, तभी तो कहते हैं -

'किसी की गोद में सिर धर
घटा घनघोर बिखरा कर
अगर विश्वास सो जाये,
धड़कते वक्ष पर मेरा अगर व्यक्तित्व खो जाये,
न हो यह वासना
तो जिन्दगी की माप कैसे हो ?'[1]

भारती के मानस की एक अन्य झलक 'एक फैन्टेसी' कविता में देखने को मिलती है जिसमें वे आकाश पर एक विचित्र का प्रकार ऐसा धुआँ देखते हैं जिसमें तारों में अकुलाहट तथा चाँद में कम्पन है। कवि आघात की गहराई से परिचित है इसीलिए उसे बादलों के सीने से खून के उबलने की प्रतीति होती है। प्यार के चित्र को वह एक ऐसी फैन्टेसी में बाँधना चाहता है जिसमें असम्भव स्थिति का बोध होता है।[2]

'बरसाती झोंका' में प्रकृति के उद्दीपन रूप को देखा जा सकता है। आषाढ़

1. दूसरा सप्तक, पृ. 170
2. धर्मवीर भारती-साहित्य के विविध आयाम : डॉ. हुकु म चन्द्र राजपाल, पृ. 21

की पहली घटाओं के साथ हवा का सर्द झोंका बहकर आता है जो उसके हृदय में व्याप्त वासना को और अधिक प्रज्ज्वलित करता है। विचित्र स्थिति तब होती है जब उसे यह दर्द सौगन्ध सा बिखरा प्रतीत होता है। 'यह दर्द' रचना में सहनशील होने का संकल्प है।'चुम्बन' में बाँसुरी तथा आरती का सन्दर्भ स्थिति को बदलता है। 'जाड़े की शाम' में कवि ने नई स्थितियों को प्रस्तुत किया है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि भारती को काव्य लेखन के प्रारम्भिक दौर में प्रकृति में उदासी का वातावरण बहुत प्रिय रहा है। उन्हें प्रणय की अनुभूति प्रकृति की उदासी के बिना अधूरी सी लगती है। उनके उपमानों में वासना और धार्मिकता, स्थूलता और सूक्ष्मता का भी सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है। कविता लेखन का यह वह दौर था जब भारती के कवि पर रूमानियत का नशा पूरी तरह हावी था। इलाहाबाद के गली-कूंचे और प्रयाग विश्वविद्यालय का परिसर उनकी कविता को प्रभावित कर रहा था। यह स्वाभाविक ही है कि ऐसे वातावरण में परवान चढ़ने वाली कोई भी लेखनी या तो प्रेम की मादकता से सराबोर रहे या फिर सामाजिक व्यवस्था के प्रति विद्रोह का बिगुल बजाती दिखे। भारती के साथ भी यही हो रहा था। उनका कवि धीरे-धीरे भावुक से चिन्तक के रूप में परिवर्तित होता दिखता है।

'सात गीत वर्ष' के प्रकाशन तक यह चिन्तक पूरी तरह परिपक्व हो चुका था। इस काव्य संग्रह की भूमिका में भारतीजी का वक्तव्य जहाँ सृजन के क्षण की महत्ता को रेखांकित करता है वहीं रचना प्रक्रिया के विविध आयामों की

1. धर्मवीर भारती-साहित्य के विविध आयाम : डॉ. हुकूम चन्द्र राजपाल, पृ. 21

ओर भी संकेत करता है। इस संकलन में संग्रहीत आपकी कविताओं में ईश्वर के अस्तित्व और क्षण की महत्ता की काव्यात्मक अभिव्यक्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है। ये कविताएँ भारतीजी के व्यक्तित्व को समझाने में पूर्णत: सक्षम हैं। प्रत्येक कविता कवि के दृष्टिकोण को बारीकी से रेखांकित करती है। इन कविताओं में आस्था-अनास्था, व्यक्ति-समष्टि और क्षणबोध व संकट बोध के विविध आयाम संयोजित हैं। यह कहा जा सकता है कि भारतीजी की काव्य यात्रा के इन सात वर्षों ने उनके आगामी लेखन की दिशा और दशा तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। 'एक ओर वे अपनी रचनाओं में युग की समस्याओं को उभारते हैं जिसे यौन कुण्ठाओं से अभिहित किया जाता है, इसी में अनास्था, अविश्वास, संत्रास जैसी स्थितियाँ भी आती हैं वहीं परम्परा के प्रति भी उनकी दृष्टि सजग रही है। वस्तुत: कवि भारती के चिन्तन में सदैव संतुलन रहा है। उनकी रचनाओं में जहाँ वैयक्तिक चेतना का सवर गूंजता है वहाँ परम्परायुक्त समष्टिभाव भी उपलब्ध होता है, पर उनका व्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक व्यंजित हो पाया है।'[1]

यहाँ तक आते-आते भारतीजी का भावलोक काफी विस्तृत हो चुका था। परम्परा में आसक्ति और विरक्ति दोनों ही स्थितियों का आना निश्चित है किन्तु भारती ने बड़े संतुलन के साथ दोनों के मध्य समन्वय स्थापित किया है। उनकी वैयक्तिक चेतना में रूमानियत होते हुए भी संस्कारगत निखार एवं दायित्व का बोध स्पष्ट है।

1. धर्मवीर भारती-साहित्य के विविध आयाम : डॉ. हुकूम चन्द्र राजपाल, पृ. 39

काव्य यात्रा की अगली कड़ी थी 'अंधा युग'। 1954 में प्रकाशित इस नाट्य काव्य में भारती ने युगीन समस्याओं को महाभारतकालीन कथानक के माध्यम से अभिव्यंजित किया है। इसके सृजन के पीछे उनका मंतव्य अनास्था, अविश्वास, अमर्यादा, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध एवं आत्मघात की चर्चा करते हुए अन्ततः आस्था, विश्वास, मर्यादा, सत्य, धर्म, श्रद्धा एवं सद्भाव आदि की महत्ता को प्रतिपादित और प्रतिष्ठित करना है। यह जीवन के शाश्वत मूल्यों के प्रति आस्था की स्थापना है।

कनुप्रिया (1959) भारती के काव्यलेखन का चरमोत्कर्ष है। यहाँ तक आते-आते वे इतने ऊँचे उठ गये हैं कि उनके समूचे काव्य को एक पलड़े में रखकर दूसरे पलड़े में अगर केवल कनुप्रिया को रखें तब भी दूसरा पलड़ा भारी नज़र आयेगा।[1] कनुप्रिया के सृजन का मंतव्य समझने के लिए भारती द्वारा लिखी गई भूमिका पढ़ लेना ही पर्याप्त होगा, जिसमें वे कहते हैं कि -'ऐसे भी क्षण होते हैं जब हमें लगता है कि यह सब जो बाहर का उद्वेग है महत्व उसका नहीं है- महत्व उसका है जो हमारे अन्दर साक्षात्कृत होता है......चरम तन्मयता का क्षण, जो एक स्तर पर सारे बाह्य इतिहास की प्रक्रिया से ज्यादा मूल्यवान सिद्ध हुआ है। जो क्षण हमें सीपी की तरह खोल गया है, इस तरह कि समस्त बाह्य-अतीत, अतीत और वर्तमान सिमटकर उस क्षण में पुंजीभूत हो गया है और हम नहीं रहे।'[2]

1. कनुप्रिया - एक अध्ययन : अपर्णा खरे, पृ.-7
2. तदैव , पृष्ठ- 8

भारतीजी का अंतिम काव्य संग्रह था 'सपना अभी भी'। इसमें उनकी मुंबई में लिखी कविताएँ संकलित हैं, जो यह साबित करती हैं कि जीवन की तमाम आपाधापी के बीच भी उनका कवि निरन्तर जीवित बना रहा।

कविता की इस यात्रा के साथ-साथ भारतीजी का गद्य लेखन और पत्रकारिता का क्षेत्र भी निरन्तर विकसित होता रहा। यहाँ यह उल्लेख भी आवश्यक है कि आपकी प्रथम प्रकाशित कृति बहुचर्चित उपन्यास 'गुनाहों का देवता' गद्य विधा में ही था। इस उपन्यास के प्रकाशन ने हिन्दी साहित्य में जो क्रांति लाई वह भूतो न भविष्यत् है। ऐसी लोकप्रियता हिन्दी में किसी अन्य उपन्यास को शायद ही मिली हो। यह सोचकर आश्चर्य होता है यह भारतीजी की प्रथम कृति थी। स्वयं भारती भी इसके बाद इसकी टक्कर का कोई दूसरा उपन्यास नहीं लिख पाये।

पत्रकारिता से भी उनका जुड़ाव प्रारम्भ से ही था। इलाहाबाद में अपने अध्ययनकाल में ही आपने पहले 'अभ्युदय' फिर 'संगम' नामक पत्रिका में सहायक सम्पादक के रूप में कार्य किया। 'आलोचना' नामक पत्रिका का भी सम्पादन किया। सन् 1960 में जब धर्मयुग के सम्पादक होकर बम्बई गये तब विश्वविद्यालय से दो वर्ष का अवैतनिक अवकाश यह सोचकर लिया था कि यदि वापस लौटना पड़े तो प्राध्यापक की नौकरी तो सुरक्षित बनी रहे। यह नौबत कभी नहीं आई। धर्मयुग के सम्पादक के रूप में आपने जो इतिहास रचा वह सर्वविदित है।

000

तृतीय अध्याय

धर्मवीर भारती का व्यक्तित्व

तृतीय अध्याय

धर्मवीर भारती का व्यक्तित्व

किसी भी साहित्यकार के कृतित्व पर उसके व्यक्तित्व की गहरी छाप होती है। व्यक्तित्व में रहन-सहन, वेश-भूषा और मानसिकता अर्थात आंतरिक गुणों से लेकर इन बातों का भी बहुत महत्व होता है कि आलोच्य व्यक्ति का उठना-बैठना किन लोगों के बीच है, उसके मित्र कौन हैं ? उसकी दिनचर्या क्या है ? उसकी विचारधारा क्या है ? इत्यादि।

भारती के व्यक्तित्व का आकलन करने के लिए यह आवश्यक है कि उनके व्यक्तित्व में क्रमश: जो परिवर्तन आये उन पर सूक्ष्मता से दृष्टिपात किया जाये। पिता की असमय मृत्यु के बाद मामा के आश्रय में पलने वाले बालक के स्वभाव में संकोची वृत्ति का पनपना एक स्वाभाविक प्रक्रिया मानी जा सकती है। इसीलिए उनके रहन-सहन में एक विशिष्ट प्रकार का संयम बचपन से ही आ गया था। अध्ययन के दौरान ही उन्होंने पढ़ाई का खर्च निकालने के लिए अंशकालिक पत्रकारिता प्रारम्भ कर दी थी। पढ़ाई पूर्ण होते ही वे प्राध्यापक हो गए। इन सारी भूमिकाओं में तड़क-भड़क वाले रहन-सहन की तो कोई गुंजाइश थी ही नहीं। प्रयाग की साहित्यिक गतिविधियों को संचालित करने के

लिए बनाई गई संस्था 'परिमल' का उन दिनों बुद्धिजीवियों की जमात पर भारी दबदबा था। भारती परिमल के महत्वपूर्ण सदस्य थे। 'परिमल' के सदस्यों पर लिखे अपने एक संस्मरण में प्रसिद्ध कवि अजित कुमार ने भारती का वर्णन जिल शब्दों में किया है उससे उनके तत्कालीन रहन-सहन को आसानी से समणा जा सकता है। अजित कुमार के शब्दों में -'उन दिनों वे (भारती) एक खास तरह की जैकेट पहनते थे। नतीजा यह था रास्ता चलतों की निगाह उन पर अटकती थी। उन्हीं दिनों मैंने 'गुनाहों का देवता' पढ़ा था तो कुछ ऐसा हुआ कि एक मज़ाक चल पड़ा। हम और ओंकार (ओंकार शरद , जो संगम में भारती के साथ सहायक सम्पादक थे) भारती को 'नैस्टर्शियम' कहने लगे। धीरे-धीरे यह नाम काफी प्रचलित हो गया। हमारे बहुत से दोस्तों ने भारती का यह नाम स्वीकार किया। उन दिनों हम कुछ खास दोस्त हर दूसरे-तीसरे दिन लोकनाथ की नुक्कड़वाली दूकान पर कुल्फी खाने जाते थे, और पता नहीं क्या संयोग था कि भारती हमेशा वहाँ दिख जाते- कभी इधर से जाते हुए, कभी उधर से आते हुए। हम लोग भारती को देखते तो बहुत खुश होते। चुपके-चुपके कहते- देखो, देखो, नैस्टर्शियम जा रहा है।

नैस्टर्शियम के जाने, टहलने और पान खाने की कल्पना पर हमें बड़ी हँसी आती थी। फिर कुछ ऐसा हुआ कि भारती वहाँ कम दिखाई पड़ने लगे। हम लोग लोकनाथ तक पहुँचकर उत्सुकता के साथ इधर-उधर देखते। सारी परिचित चीजें दिखाई देतीं- भांग के नशे में चूर कुल्फीवाला, रबड़ी-मलाई की थालियाँ और मलाई पर रखा हुआ कोयला सभी कुछ बदस्तूर रहता, लेकिन

एक दुबली-पतली, साँवली-सलौनी काया न दिखती। तब एक दिन कुल्फी खाते-खाते रुककर ओंकार ने एक लम्बी सांस भरकर कहा- पहले नैस्टर्शियम लोकनाथ में टहलता था अब हिन्दी डिपार्टमेन्ट में उगता है।'[1]

भारती सन् 1950 से लेकर 1960 तक प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक रहे। इस दौरान वहाँ परिमल व अन्य साहित्यक आन्दोलनों तथा साहित्यिक पत्रकारिता में भी उनका गहरा प्रभाव था। उस समय के भारती को समझने के लिए मैं यहाँ डॉ. रघुवंश द्वारा उन्हें लिखे गए एक पत्र के कुछ अंश को उद्धृत कर रहा हूँ - '....और जब मैं साहित्य के प्रारम्भिक परिमलीय दिनों का स्मरण करता हूँ तो सारे उत्साह-उल्लास के केन्द्र में तुम्हारा व्यक्तित्व सामने आ जाता है। वे दिन जब याद आते हैं तो आज भी मन में उन्माद छा जाता है। वह हमारी मस्ती का आलम था। साहित्य के क्षेत्र में हम भले ही नवागंतुक रहे हों, पर जिस उत्साह और आवेश के साथ हमारा प्रवेश था, वह साहित्य में महत्वपूर्ण घटना थी। मैं नहीं जानता कि इसको साहित्य का इतिहासकार मानेगा या नहीं, पर मुझे आज भी ऐसा ही लगता है। हमने देश की पराधीनता के युग से शुरू किया था, पर हमारे चिन्तने में स्वतंत्रता का आवेश था। प्रगतिवादियों से विरोध का मुख्य आधार यही था। और तुम, भारती तुम बार-बार इस स्मृति में मेरे सामने आ जाते हो। तुम्हारा वह उन्मद-उन्मद डूबा-डूबा व्यक्तित्व सामने आता है। निरन्तर टहलते हुए अपने हाथ से अपने बड़े लम्बे बालों को पीछे समेटते हुए, कुछ गहरे मर्म भरे स्वर में

1. अंकित होने दो, पृ. 236-237 (भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित)

गुनगुनाते हुए आज भी मेरे सामने आ जाते हो।

इसी तरह योजनायें बनाई जातीं, गोष्ठियाँ संयोजित की जातीं, उत्सव मनाये जाते, पत्रिकाएँ निकाली जातीं। चुनौती भाव रहता, किसी भी दबाव के प्रति हमारा आक्रामक भाव रहता। कोई प्रतिष्ठान हमको मान्य नहीं रहा, हम किसी भी आश्रय के खिलाफ थे, चाहे वह प्रतिष्ठा प्राप्त साहित्यकारों का हो या अधिकार प्राप्त राजनेताओं का। और हमारे इन सारे आन्दोलनों और आक्रमणों के नेता तुम थे। हमने पीढ़ियों की भी बहस चलाई, हमने साहित्य के मूल्यों को मानवीय सन्दर्भ से जोड़कर रखने की भी घोषणा की। हमने मानव स्वाधीनता की, व्यक्तित्व की गम्भीर चर्चा चलाई, घोषणाएँ कीं। तुम जिस तरह इन सब सब चर्चाओं, बहसों और आन्दोलनों के केन्द्र में थे, तुम जिन भंगिमाओं के साथ हमारे बीच नेतृत्व कर रहे थे, उसकी याद आ रही है।

.....हम बैठकर चाय पर, काफी पर योजनाएँ बनाते थे, गोष्ठियों, उत्सवों, समारोहों की और पत्रिका निकालने की। आगे बढ़ाने की शक्ति के रूप में तुम हमारे साथ थे। तुमसे बड़ा प्यार था, तुम पर बड़ा भरोसा था।'[1]

सन् 1960 और उसके बाद के कुछ वर्ष भारती के जीवन के सबसे महत्वपूर्ण बरस थे। इन सालों में न केवल बाह्य और सामाजिक स्तर पर बल्कि मन के स्तर पर भी बहुत कुछ बदला। ये परिवर्तन और नवनिर्माण का दौर था। सही-गलत, उचित-अनुचित और नैतिक-अनैतिक की परिधि से परे इन वर्षों में जो कुछ घटा उसने भारती के जीवन को पूरी तरह बदल दिया। ये इलाहाबाद के

1. जेल और स्वतंत्रता : डॉ. रघुवंश , पृ. 107-108

क्षेत्रीय परिवेश से निकलकर धर्मयुग के जरिये पूरे राष्ट्रीय परिदृश्य पर छा जाने के दिन थे। ये आहिस्ते-आहिस्ते चटक रहे एक दाम्पत्य के टूटने के दिन थे तो एक अजीबोगरीब रिश्ते को दाम्पत्य का नाम देकर उसकी अतल गहराई में डूब जाने के भी दिन थे। ये एक बेटी को उसकी माँ से अलग कर माता-पिता दोनों का दायित्व निभाते हुए उसका जीवन गढ़ने की जिजीविषा के दिन थे तो लगभग इसी तरह एक पत्रिका को नया रूप-रंग देकर उसके चरित्र और स्वरूप को बदलने की चुनौती पर खरा उतरकर दिखाने की चुनौती को स्वीकारने के दिन भी थे। किसी भी व्यक्ति के लिए यह सब कतई आसान नहीं था। भारती के लिए भी नहीं। यहीं आकर उनका व्यक्तित्व अभिनन्दनीय हो जाता है क्योंकि उन्होंने समय के निकष पर स्वयं को न केवल खरा सोना साबित किया अपितु अनेक स्तरों पर सफलता के ऐसे आयाम रचे जो आगे चलकर मानदण्ड बन गए।

'भारती का प्रणय जीवन भी काफी तूफानी और संघर्षमय रहा है। उनके अभिन्न मित्रों में से एक प्रसिद्ध नाटककार डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने एक बार ज्योतिषी परमानन्द शुक्ल से इस सम्बन्ध में पूछा तो शुक्लाजी ने भारती की जन्म-पत्रिका देखकर बताया था कि -'भाई, इसकी राशि है कुम्भ, नक्षत्र है धनिष्ठा। सूर्य भाग्येश होकर इसकी लग्न में बैठा हुआ है। इसे तो राजयोग है। इसे मान-प्रतिष्ठा, धन-पद की क्या कमी? सूर्य अग्नि ग्रह है अत: इसमें एक ओर जहाँ परम उत्साह, सक्रियता, नेतृत्व की भावना, सौभाग्य, यश, उन्नति है, वहीं यह शरीर से सदैव रोगी रहेगा। इसका शुक्र मकर का है। मित्र क्षेत्री

है। चन्द्रमा से दूसरा बारहवाँ योग कर रहा है। शुक्र है प्रेम का देवता। चन्द्रमा है काम का देवता। अतः प्रेम और काम में संघर्ष, अशान्ति, बौखलाहट।' ज्योतिष की बात विश्वसनीय हो या नहीं, पर यह सच है कि भारती के जीवन में प्रेम और काम का संघर्ष बहुत तीव्र रहा है।'[1]

भारती के जीवन का पूर्वार्द्ध जहाँ ठेठ इलाहाबादी रहा, वहीं उत्तरार्द्ध इसके ठीक विपरीत अत्यन्त गुरु-गम्भीर वातावरण में व्यतीत हुआ। अतरसुइया के मध्यवर्गीय एवं निम्न मध्यवर्गीय जीवन के गहन अनुभवों के आधार पर ही उन्होंने अपनी कथाकृतियों - गुनाहों का देवता, सूरज का सातवाँ घोड़ा, चाँद और टूटे हुए लोग, बन्द गली का आखिरी मकान आदि का सृजन किया है। गुलकी बन्नो जैसा पात्र अतरसुइया में ही हो सकता है अन्यत्र नहीं। भारती के परवर्ती काव्य की रूपासक्ति और प्रणयगत अतृप्ति भी अनुभूत है। प्रायः उन पर यह आरोप लगाया जाता है कि उनके काव्य में रूमानियत और माँसलता अधिक है, लेकिन यह भी उनका भोगा हुआ यथार्थ है। अपने प्रणय प्रसंगों को भारती ने न तो गोपन रखने का प्रयास किया है और न ही रहस्यवाद के परदे में लपेटकर पेश किया है। यही उनका व्यक्तित्व है।

भारती जब इलाहाबाद से बम्बई आये तो उनमें बड़ी तेजी से कुछ परिवर्तन परिलक्षित हुए। यह कान्ता से अलग होने और पुष्पा से सार्वजनिक तौर पर जुड़ने के भी दिन थे। यह मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपने प्रिय पात्र में अपने मनमाफिक कुछ परिवर्तन अवश्य करना चाहता है, तब तो यह

1. मेरा हमदम मेरा दोस्त : सम्पादक- कमलेश्वर, पृ. 52

इच्छा और भी बलवती हो जाती है जब प्रिय पात्र पहले किसी और का सर्वस्व रहा हो। इसी मनोविज्ञान के चलते पुष्पा शर्मा (अब भारती) ने भी भारती के बाह्य रूपाकार में कुछ बदलाव किये। इलाहाबाद के लम्बे-लम्बे बाल अब अपेक्षाकृत छोटे हो गए। नियमित रूप से पहनी जाने वाली जैकेट अब यदा-कदा ही पहनी जाती थी। पेन्ट-शर्ट और टाई अथवा सूट अब उनका नियमित पहनावा था। चुरुट पीना उनका शौक भी था और अदा भी। कभी-कभार सिगार भी पीते थे। यह तो थे कुछ बाह्य परिवर्तन जो सभी को दृष्टिगत हुए, परन्तु उनके व्यवहार और कार्यप्रणाली में जो परिवर्तन आया उसे उनसे नियमित रूप से जुड़े हुए व्यक्ति ही बता सकते हैं।

बम्बई (अब मुंबई) में विक्टोरिया टर्मिनल रेलवे स्टेशन (अब लोकमान्य तिलक टर्मिनल) से कुछ ही दूरी पर है टाइम्स की वह इमारत जिसमें बैठे लोगों ने शब्दों की दुनिया में जाने कितनी उथल-पुथल मचायी है। इस इमारत के पहले माले पर नवभारत टाइम्स का कार्यालय है। इसके ऊपर वाले माले पर टाइम्स ग्रुप की पत्रिकाओं के कार्यालय हैं। इन सबको जोड़ने वाला एक लम्बा गलियारा है। सबसे पहले धर्मयुग का कार्यालय है और सबसे आखिर में इलेस्ट्रेड वीकली का। (यह तब की बात है जब ये पत्रिकाएँ प्रकाशित होती थीं, अब तो इनमें से अधिकांश पत्रिकाएँ बन्द हो चुकी हैं और इनका स्वामित्व भी अब टाइम्स के पास नहीं है।) धर्मयुग कार्यालय के एक बड़े से कक्ष में विराजमान होते थे सम्पादक डॉ. धर्मवीर भारती। उनके कक्ष के बाहर एक बड़े से हॉल में अन्य सम्पादकीय सहयोगी बैठते थे। ज्यादातर सहकर्मी भारतीजी को डॉकसाब

(डॉक्टर साहब) सम्बोधन से पुकारते थे। धर्मयुग के तत्कालीन फीचर सम्पादक कुमार प्रशांत बताते हैं कि- 'भारतीजी जैसे सम्पादक के साथ काम करना अपने-आप में अनूठा और अविस्मरणीय अनुभव है। हर पल काम में डूबे रहने वाले ऐसे व्यक्ति बिरले ही होते हैं। वे जब तक धर्मयुग में रहे, बस एक ही धुन लगी रही कि पत्रिका को और अधिक बेहतर कैसे बनाया जा सकता है। अपने हर सहकर्मी के सुख-दुःख का भी वे सदैव ध्यान रखते थे।'

हिन्दी के पहले पोर्टल (इन्टरनेट समाचारपत्र) 'वेब दुनिया' के सम्पादक प्रकाश हिन्दुस्तानी जब धर्मयुग में वरिष्ठ उपसम्पादक थे तब के संस्मरणों को याद करते हुए बताते हैं कि -'टाइम्स बिल्डिंग में भारतीजी का दबदबा देखते ही बनता था। उनके कार्यालय में प्रवेश करते ही बिलकुल सन्नाटा छा जाता था। धर्मयुग के प्रत्येक अंक में जाने वाली सम्पूर्ण सामग्री का एक-एक अक्षर उनकी निगाहों से गुजरता था। अंक प्रेस में जाते ही अगले अंकों की तैयारी शुरू हो जाती थी। उनका प्रयास रहता था कि पत्रिका का हर अंक अपने आप में विशेषाँक हो। इसके लिए प्रत्येक अंक की रूपरेखा कई-कई हफ्ते पहले ही तैयार कर ली जाती थी। केवल सम-सामयिक घटनाओं से जुड़ी रिपोर्ट ही बिलकुल आखिरी समय में तैयार होती थी। इस सम्बन्ध में किसी भी सहयोगी की तनिक सी भी लापरवाही उन्हें बिलकुल बर्दाश्त नहीं होती थी। पत्रिका के सम्पादकीय निर्णयों में प्रबन्धन की दखलन्दाजी भी उन्हें कतई स्वीकार्य नहीं थी।'

भारतीजी के साथ उप सम्पादक के रूप में काम कर चुके वरिष्ठ पत्रकार

हरीश पाठक बताते हैं कि -'जिस तरह से स्वच्छ, सुव्यवस्थित और सुनियोजित ढंग से वे स्वयं काम करते थे वही अपेक्षा अपने सहयोगियों से भी करते थे। एक बार जिसे जो कार्य सौंप दिया गया उस पर बार-बार विचार विमर्श करना भी उन्हें पसन्द नहीं था। कुछ सहयोगियों को उनका व्यवहार रूखा और तानाशाह जैसा लगता था, यह बात कुछ हद तक सच हो सकती है किन्तु उन जैसे अतिव्यस्त और पत्रिका के प्रति समर्पित व्यक्ति के व्यवहार में विद्यमान इस रूखेपन को असहज नहीं कहा जा सकता।'

यह राय भारती के कुछ जिम्मेदार कार्यालयीन सहयोगियों की है। उनके मित्रों का मानना है कि वे बहुत ही यारबाज और पुराने साथियों को निरन्तर याद रखने वाले इन्सान थे। उनके इलाहाबादी अग्रज और उम्र में कोई 20 वर्ष बड़े प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ. हरिवंशराय बच्चन ने एक साक्षात्कार में कहा था कि -'यदि यह दूसरा बच्चन (याद रहे कि भारती के बचपन का घरेलू नाम बच्चन ही था) मुंबई न आता तो हिन्दी साहित्य के इतिहास में बहुत कुछ अनघटा ही रह जाता।'

भारती की एक विशेषता यह भी रही कि उन्होंने अपने से जुड़े प्रत्येक व्यक्ति को आगे बढ़ने के भरपूर अवसर उपलब्ध कराये। इलाहाबादी मित्रों के प्रति उनका अतिरिक्त अनुराग धर्मयुग के पन्नों में भी साफ देखा जा सकता था। धर्मयुग के सम्पादक के नाते उनकी दिनचर्या इतनी व्यस्ततम हो गई थी कि अनेक निजी कार्यों और अध्यवसाय के लिए वे चाहते हुए भी समय नहीं निकाल पाते थे। इसके बावजूद भ्रमण, अध्ययन और लेखन की प्रक्रिया अन्त तक जारी

रही। भारती को पढ़ाई और घुमक्कड़ी से बहुत प्रेम था। उन्हीं के शब्दों में - 'दो चीजों की बेहद प्यास है- एक तो नई-नई किताबों की और दूसरी अज्ञात दिशाओं को जाती हुई लम्बी, निर्जन छायादार सड़कों की। सुविधा मिले तो जिन्दगी भर धरती की परिक्रमा देता जाऊँ।'[1]

विचारधारा :- भारती की विचारधारा राष्ट्रीयता से कितनी ओतप्रोत थी, इसे समझने के लिए यह तथ्य ही पर्याप्त है कि सन् 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में सक्रिय हिस्सेदारी निभाने के लिए आपने अपनी पढ़ाई भी एक साल के लिए स्थगित कर दी थी। उन्होंने इस आन्दोलन को 'नायकहीन क्रांति' कहा है। राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ बंगाल में पड़े अकाल ने भी उनके मानस को झकझोर कर रख दिया। महादेवी वर्मा द्वारा 'बंग दर्शन' के माध्यम से इस घटना के प्रति साहित्यकारों को निमंत्रण देने तथा अकाल से प्रेरणा पाकर भारती ने अनेक कहानियाँ लिखीं। यह कहानियाँ 'मुर्दों कर गाँव' शीर्षक से संकलन के रूप में भी प्रकाशित हुईं। इसकी भूमिका में भारती ने लिखा है- 'यदि हम भूख में अंगारे चबा जाने की शक्ति नहीं रखते, तो हम इसी लायक हैं कि हमारी लाशें नाबदानों में सड़ें और उन पर घिनौनी मक्खियाँ भिनभिनायें।'[2]

राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़े नेताओं पर भारती पर नेताजी सुभाष चन्द्र बोस, महात्मा गांधी, आचार्य विनोबा भावे का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है। राष्ट्रीय भावना के जुनून में ही उन्होंने हाईस्कूल में पढ़ते समय ही 'भारतीय'

1. दूसरा सप्तक, पृ. 175
2. मुर्दों का गाँव : धर्मवीर भारती, भूमिका भाग से

उपनाम अपना लिया था। इसी उपनाम का अंतिम अक्षर 'य' बी.ए. तक पहुँचते-पहुँचते लुप्त हो गया और वे 'भारती' नाम से पहचाने जाने लगे। गांधीजी से वे बहुत प्रभावित थे, एक जगह उन्होंने लिखा है-'इसमें सन्देह नहीं कि हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन साधारणजन से विच्छिन्न था। गांधीजी ने उसमें मूल्यों की प्रतिष्ठा की। उसे सक्रिय बनाया। साधारणजन को पूर्णतया जागकर विकसित होने का अवसर नहीं मिला पर उस सेवाग्राम के संत ने जैसे जादू में बाँधकर उन्हें मोहाविष्ट कर कर्म में अवश्य प्रवृत्त करा दिया।'[1]

भारती पर विविध आन्दोलनों, संस्थाओं तथा राष्ट्र निर्माण एवं मानव समाज के विकास में निर्णायक भूमिका निभाने वाले महत्वपूर्ण व्यक्तियों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। और सच तो यह है कि इस प्रभाव के परिणामस्वरूप ही एक सच्चे साहित्यकार और मानवतावादी मूल्यों में आस्था रखने वाले भारती हमारे सामने आते हैं।[2]

डॉ. चन्द्र भानु सोनवणे तो कहते हैं क्रिसमस के दिन पैदा होने के कारण ईसा मसीह का प्रभाव भी भारती के व्यक्तित्व पर देखा जा सकता है। सोनवणे के अनुसार- 'दूसरे के पापों का बोझ अपने पर लेने की मसीहाई कर्म फल के सिद्धान्त की दृष्टि से असंगत विचार होते हुए भी मसीहा के मन की मनोदशा का निर्देश अवश्य करती है। इस प्रकार की मसीहाई करुणा 'अंधायुग' के कृष्ण में विद्यमान है, जिसमें कृष्ण ने अश्वत्थामा की पीड़ा को स्वयं धारण किया है।'

1. कनुप्रिया - एक अध्ययन : अपर्णा खरे , पृ. 6

2. तदैव , पृ. 7

कुछ लोग भारती के छायावाद को रोमेन्टसिज्म और स्वच्छन्दतावाद से प्रभावित मानते हुए उनके काव्य को माँसल और कहीं-कहीं कामुकता से प्रेरित मानते हैं। यहाँ मेरा मानना यह है कि इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि भारती का व्यक्तित्व रूमानियत से ओत-प्रोत रहा है, वासना को भी उन्होंने जीवन का अनिवार्य अंग माना है परन्तु इस मान्यता का निर्वाह करते हुए भी भारती ने ऐसे स्वच्छन्दतावाद या माँसल कल्पनालोक को किंचित भी अंगीकार नहीं किया है जो मानवोचित मर्यादा और विवेक के प्रतिकूल हो।

प्रसंगवश उनके आर्यसमाजी विचारधारा से प्रभावित होने को लेकर भी विद्वान एकमत नहीं हैं। इस बारे में कुछ विद्वानों की राय दृष्टव्य है, डॉ. कमलेश त्रिवेदी कहते हैं कि -'बचपन से ही माता के आर्यसमाजी विचारों-संस्कारों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। धर्मवीर नाम इसी ओर संकेत करता है।'[1] नाम वाला तर्क इसलिए गले नहीं उतरता कि किसी भी व्यक्ति की विचारधारा का अन्दाज उसके नाम से नहीं लगाया जा सकता क्योंकि नामकरण के समय कोई भी व्यक्ति अपनी विचारधारा के बारे में सोच सकने की स्थिति में नहीं होता।

एक अन्य विद्वान डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे निखते हैं कि - 'स्कूली पढ़ाई के बाद महाविद्यालय कालीन पढ़ाई के काल में भारती कुछ वर्ष डॉ. वर्मा के सम्पर्क में रहे। डॉ. वर्मा आस्थावान आर्यसमाजी थे।.... इन तथ्यों के आधार

1. अंधा युग - एक शैली वैज्ञानिक अध्ययन : डॉ. कमलेश त्रिवेदी , पृ. 11

पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारती के व्यक्तित्व पर आर्यसमाजी संस्कारों का प्रभाव पड़ा है। भारती को निर्मम तर्कशीलता एवं मर्यादावादी जीवन दृष्टि आर्यसमाज के प्रभाव के फलस्वरूप मिली है।'[1]

डॉ. पुष्पा वास्कर की राय भी इसी से मिलती-जुलती है। वे लिखती हैं कि - 'भारती के व्यक्तित्व के निर्माण में जहाँ एक ओर उनकी माता के आर्यसमाजी संस्कारों एवं डॉ. धीरेन्द्र वर्मा के निर्भीक चिन्तन का योगदान है, वहीं दूसरी ओर इलाहाबाद के अतरसुइया मोहल्ले के मध्य एवं निम्न मध्यवर्गीय जीवन की पीड़ाओं ने भी यथेष्ट पूँजी उन्हें दी है। इसी सृजन के बल पर वे अपने सृजन को यथार्थवादी धरातल पर ले जा सके।'[2]

उपलब्ध तथ्यों का आकलन करने के बाद मेरा अपना निष्कर्ष यह है कि भारती की माँ चन्दादेवी कट्टर आर्यसमाजी थीं यह तो सच है किन्तु भारती पर उनका प्रभाव न के बराबर है। इस राय के समर्थन में सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि तार सप्तक का प्रकाशन जिस समय हुआ था उन दिनों आर्यसमाजी लोग भागवत की निन्दा करते नहीं अघाते थे ऐसे में भारती ने तार सप्तक में अपने वक्तव्य में अपनी प्रेयसी को 'जीवन की भागवत' माना था। कुछ आलोचक इसे उनके सनातनी होने का परिचायक मानते हैं। इसी प्रकार यदि बारीकी से भारती के समग्र सृजन पर दृष्टिपात किया जाए तो जिस तरह घनानन्द की सुजान उनके पूरे काव्य में विद्यमान है उसी प्रकार भारती की प्रेयसी तो अलग-

1. धर्मवीर भारती का साहित्य-सृजन के विविध रंग : डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे, पृ. 3
2. धर्मवीर भारती - व्यक्ति और साहित्यकार : डॉ. पुषपा वास्कर , पृ. 24

अलग रूपों में सर्वत्र विद्यमान है किन्तु नारी का माँ रूप उतनी शिद्दत से नहीं उभरा है। 'अंधा युग' की गाँधारी को छोड़ दें तो भारती के समूचे साहित्य में केवल 'यह मेरे लिए नहीं' कहानी ऐसी है जिसमें माँ की किंचित झलक बिजली की तरह कौंधती है। यह बात गले नहीं उतरती कि माँ से प्रभावित किसी भी साहित्यकार के साहित्य से माँ इस तरह अनुपस्थित बनी रहे। दरअसल भारती अपनी किशोरावस्था से ही प्रेम में इतने निमग्न हो गए कि शेष मनोगत भावों की मीमांसा करने या उनका चित्रण करने का अवकाश निकाल पाना उनके लिए सम्भव ही नहीं हो सका।

यह कहा जा सकता है कि भारती की विचारधारा कोल्हू के बैल की तरह एक दायरे में चक्कर नहीं काटती रही है बल्कि वह समय-सापेक्ष और यथार्थनिष्ठ होने के कारण परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तित होती रही है। भारती ने गद्य और पद्य दोनों ही प्रकार के लेखन में यथार्थ का धरातल कभी भी नहीं छोड़ा। वे अपने पात्रों के माध्यम से जिस निर्ममता से स्थितियों का पोस्टमार्टम करते रहे वह केवल उनके ही बूते की बात थी। उन्होंने अपने कतिपय अन्य समकालीनों की भाँति केवल कथावाचक की भूमिका नहीं निभाई, यथार्थ का उनका मतलब मात्र यह बतलाना नहीं होता था कि क्या हो रहा है, अपितु वे पूरी तार्किकता के साथ यह भी बताते थे कि क्या होना चाहिये। क्या हुआ ? और जो हुआ वह क्यों हुआ ? यह वर्णित करने में भी उन्हें महारत हासिल थी।

यही वे विशेषताएँ हैं जो भारती को लेखन के स्तर पर ही नहीं विचार के

स्तर पर भी अपने समय के अन्य लेखकों की भीड़ से पृथक कर एक सम्माननीय ऊँचाई पर प्रतिस्थापित करती हैं और उन्हें इतिहास पुरुष बनाती हैं। 'परिमल' के इलाहाबादी भारती से लेकर 'धर्मयुग' के बम्बईया भारती तक का सफर तय करने में उन्होंने मानसिक और सामाजिक स्तर पर चाहे जितनी यंत्रणाएँ झेली हों परन्तु इसके प्रतिफल में साहित्य की जो श्रीवृद्धि हुई वह श्लाघनीय तो है ही, स्तुत्य भी है।[1]

000

1. कनुप्रिया- एक अध्ययन : अपर्णा खरे, पृ.10

चतुर्थ अध्याय

धर्मवीर भारती का कृतित्व

चतुर्थ अध्याय

धर्मवीर भारती का कृतित्व

भारती के कृतित्व पर विस्तार से चर्चा किसी एक शोध ग्रंथ में सम्भव ही नहीं है। यह कार्य तब और जटिल हो जाता है जब शोध का मुख्य विषय उनका साहित्य न होकर पत्रकारिता हो। भारती ने गद्य और पद्य की सभी विधाओं में अपनी लेखनी का कमाल दिखाया है। प्रत्येक विधा पर उन्हें अनूठा महारत हासिल है।

रोमानियत से लबरेज उर्दू मिश्रित नाज़ुक शब्दावली और बचपन में अनजाने ही मन पर पड़े छायावादी संस्कारों के साथ दूसरा सप्तक में स्थान पाने वाले धर्मवीर भारती सप्तकीय परम्परा में सर्वाधिक संघर्षशील और बहुमुखी व्यक्तित्व वाले रचनाकार माने जाते हैं। डॉ. जयशंकर प्रसाद के बाद वे संभवतः अकेले ऐसे रचनाकार हैं जिन्हें साहित्य की सभी विधाओं पर समान अधिकार प्राप्त है।[1]

इस अध्याय में मैंने विभिन्न विधाओं में भारती द्वारा लिखी गई पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण और उनके प्रकाशन वर्ष का उल्लेख करते हुए उनकी विषय

1. धर्मवीर भारती-व्यक्ति और साहित्यकार : डॉ. पुष्पा वास्कर, पृ. 38

वस्तु पर चर्चा की है। उनकी प्रमुख कृतियाँ इस प्रकार हैं :-

कविता

ठण्डा लोहा	सन् 1952
सात गीत वर्ष	सन् 1959
कनुप्रिया (प्रबंधकाव्य)	सन् 1959
सपना अभी भी	सन् 1994

काव्यनाटक

अंधायुग	सन् 1954

एकांकी

नदी प्यासी थी	सन् 1954

उपन्यास

गुनाहों का देवता	सन् 1949
सूरज का सातवाँ घोड़ा	सन् 1952

कहानियाँ

चाँद और टूटे हुए लोग	सन् 1955
बंद गली का अखिरी मकान	सन् 1969

निबंध (संस्मरण, लेख , डायरी, रिपोर्ताज आदि)

ठेले पर हिमालय	सन् 1958
पश्यन्ती	सन् 1969

कहनी -अनकहनी सन् 1970

आलोचना

प्रगतिवाद: एक समीक्षा सन् 1949

मानवमूल्य और साहित्य सन् 1960

शोधग्रंथ

सिद्ध साहित्य सन् 1955

अनुवाद

देशान्तर सन् 1960

ऑस्कर वाईल्ड की कहानियाँ सन् 1959

रिपोर्ताज

युद्धयात्रा सन् 1972

सम्पादन

भारती ने 'संगम','आलोचना' , हिन्दी साहित्यकोश, 'धर्मयुग' व 'निकष' पत्रिका तथा भगवती चरण वर्मा के ग्रंथ 'अर्पित मेरी भावना'का सम्पादन भी किया है।

ठंडा लोहा :- 'ठंडा लोहा' भारती की प्रथम काव्य कृति है। इसमें सन् 1946 से 1952 तक के छह वर्षो की फुटकर कविताओं में से चुनी हुई कविताओं का संकलन किया गया है ।[1] इसकी भूमिका में भारती लिखते हैं कि 'किशोरावस्था के प्रणय, रूपासक्ति और आकुल निराशा से एक पावन

1. धर्मवीर भारती साहित्य के विविध आयाम : हुकुम चन्द राजपाल, पृ. 20

आत्मसमर्पणमयी वैष्णव भावना और उसके माध्यम से अपने अहं का शयनकर अपने से बाहर की व्यापक सच्चाई को हृदयंगम करते हुए संकीर्णताओं और कट्टरता से ऊपर एक जनवादी भावभूमि की खोज - मेरी इस छंदयात्रा के प्रमुख मोड़ रहे हैं।' इस संकलन की प्रथम कविता 'ठंडा लोहा' है और उसी के आधार पर नामकरण किया गया है। भाव, शिल्प आदि की दृष्टि से काफी वैविध्य दिखाई पड़ता है।[1] इस संकलन की अधिकांश कविताएं रूप, वासना, आत्मसमर्पण, रोमांस और प्रणय को आधार बनाकर लिखी गईं हैं।'कवि और अनजान पग', 'ध्वनियाँ', 'फूल', 'मोमबत्तियाँ', 'सपने', 'गंगाजमुनी वयवाली' आदि कविताएँ इसी मिज़ाज़ की है। किशोरी का आलंबन रूप में उसके प्रत्येक अंग-प्रत्यंग, भाव - भंगिमाएँ आदि का मोहक वर्णन है, जैसे कि - 'नसीली दीठ, लजीले सैन, भरे ये अरुण गुलाबी नैन' या 'तुम्हारी मुस्कुराहट में स्वर्ग, तुम्हारे आँसू में भगवान'।

वासना के बारे में कवि के विचार दृष्टव्य हैं -

'मुझे तो वासना का

विष हमेशा बन गया अमृत

बशर्ते वासना भी हो तुम्हारे रूप से आबाद

मेरी जिन्दगी बरबाद।'[2]

प्रस्तुत संकलन की प्रारंभिक कविताओं में कहीं प्रेयसी का सुंदर वर्णन है,

1. अंधा युग- एक शैली वैज्ञानिक अनुशीलन : डॉ. कमलेश त्रिवेदी, पृ.21

2. तदैव, पृ. 22

तो कहीं काम रहित पवित्र प्रेम की बात है। बाद में वही प्रेयसी कहीं अन्यत्र विवाहित हो जाती है। भारती भूलना चाहने पर भी उसे भुला नहीं पाते हैं। तब वे कहते हैं कि 'अगर डोला कभी इस राह से गुजरे कुबेला, यहाँ अँबवा तले / एक पल विश्राम कर लेना।' और यही विरह का वर्ष 'मौत से ज्यादा भारी', जीवन के लिए 'कारा' बन गया। जिससे 'छुटकारा' पाना भारती के लिए 'नामुमकिन' हो गया। भारती का यह प्रेम प्रेयसी की षोडशी वयोदशा से प्रांरभ होकर 'बाइसी मधुमास' तक चलता रहता है।'कुल 39 कविताओं में से सिर्फ 9 कविताएँ जनवादी भावना से संबंधित कही जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त अधिकांश रचनाओं में निजी आंतरिक पीड़ा की ही अभिव्यक्ति हुई है।'[1] जैसे कि 'हम अभिशापों से मुक्त करेंगे कवि का मन'[2] इसमें यथार्थ की अपेक्षा कल्पना की अधिकता है। इस संकलन में कुछ श्रेष्ठ कविताएँ भी है , जैसे - 'निराला के प्रति' में निराला को नये युग का शिव कहा है। कहीं 'मेघों की वीणा के गायक', कहीं 'विप्लव का गुरुतर आदेश' कहा है।

भारती रूप वर्णन में कहीं-कहीं इतने लीन हो जाते हैं कि उन्हें अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य का चित्रण मांसलता के स्तर तक ले जाता है। कवि अधरों, निगाहों तथा पलकों से चुम्बन तक की शारीरिक अवस्थाओं को मानसिक स्तर प्रदान करना चाहता है।[3] तभी तो कहता है :-

'अब तक तो छाया है है खुमार

1. धर्मवीर भारती व साहित्य सृजन के विविध रंग : चन्द्रभानु सोनवणे, पृ.26
2. ठंडा लोहा : धर्मवीर भारती, पृ. 27
3. धर्मवीर भारती साहित्य के विविध आयाम : हुकुम चन्द राजपाल, पृ. 23

रेशम की सलज निगाहों पर

हैं अब तक काँपे नहीं अधर

पा कर अधरों का मृदुल भार

सपनों की आदी ये पलकें

कैसे सह पायेंगी चुम्बन?

तुम अभी सुकोमल, बहुत सुकोमल, अभी न सीखो प्यार।'[1]

वस्तुतः भारती के इस प्रथम काव्य संकलन पर वैयक्तिकता पूर्णतः हावी है। इसमें उन्होंने वासना को जीवन का अपरिहार्य अंग मानते हुए उसे पाप बताने वालों का पुरजोर विरोध किया है -

'अगर मैंने किसी के होंठ के पाटल कभी चूमे

अगर मैंने किसी के नैन के बादल कभी चूमे

महज़ इससे किसी का प्यार मुझको पाप कैसे हो?

महज़ इससे किसी का स्वर्ग मुझ पर शाप कैसे हो ?

किसी की गोद में सिर धर

घटा घनघोर बिखरा कर, अगर विश्वास सो जाये

धड़कते वक्ष पर मेरा अगर व्यक्तित्व खो जाये ?

न हो यह वासना तो जिन्दगी की माप कैसे हो ?

किसी के रूप का सम्मान मुझ पर पाप कैसे हो ?

नसों का रेशमी तूफान मुझ पर शाप कैसे हो ?'[2]

---

1. ठंडा लोहा : धर्मवीर भारती, पृ. 26

2. तदैव , पृ. 22

जहाँ तक इसकी भाषा का प्रश्न है , वह सहज एवं प्रवाहशील है अर्थात् कवि ने जहाँ जैसा भाव व्यक्त करना चाहा है, वहाँ उसकी भाषा भी वैसी गहन या सरल बनती गई है । भारती ने उर्दू , संस्कृत तथा जनसाधारण की भाषा के शब्दों का निसंकोच प्रयोग किया है ।

सात गीत वर्ष :- भारती के दूसरे काव्य संकलन 'सात गीत वर्ष' में सन् 1952 से 1959 तक के सात वर्षों में लिखी गईं 59 कविताएं हैं । यहाँ तक आते-आते भारती ने नयी कविता के केन्द्रबिन्दु लघु मानव को पूरी तरह आत्मसात कर लिया है । इस कृति में नये-नये उपमानों, मिथकों, प्रतीकों और बिम्बों का अत्यन्त प्रभावी प्रयोग हुआ है ।[1] संकलित कविताओं में भी 'ठंडा लोहा' की भाँति प्रणय भावना से संबंधित कविताएँ अधिक हैं । प्रेमी तथा प्रेयसी का मिलन घर एवं बाहर हुआ है , तत्संबंधी काव्यरचनाएँ भी हैं । प्रेयसी के विवाह के बाद मिलन की बात है , जैसे कि 'इतने दिन बाद', 'बातों पर बातें' आदि कविताओं में कुछ इस प्रकार के भाव की अभिव्यक्ति हुई है ।

अपना विवाह होने के उपरांत भी भारती प्रेयसी के लिए जो पीड़ा का अनुभव करते हैं , उन अनुभूतियों को भी कुछ कविताओं में व्यक्त करते हैं , जैसे कि 'पाने न पाने की अजीब-सी टीस से मुक्त नहीं हो पाता मैं ।'[2]

'सात गीत वर्ष' में जनवादी भावना से संबंधित बहुत कम कविताएँ हैं - यथा 'सब कुछ टूट जाने पर भी अटूट बचने', 'नवीन धरातल' आदि रचनाएँ

1. धर्मवीर भारती-व्यक्ति और साहित्यकार : डॉ. पुष्पा वास्कर, पृ. 39
2. अंधायुग- एक शैलीवैज्ञानिक अनुशीलन : डॉ. कमलेश त्रिवेदी, पृ. 24

जनवादी भावना से ओतप्रोत हैं। यहाँ प्रतिबंद्ध संकल्प से अटूट जुड़े हुए, प्रखर आस्थावादी दृष्टिकोणवाले भारती कुछ रचनाओं में दिखाई पड़ते हैं। वे साहसी, निडर, सच्चे दृष्टा के रूप में हमारे सामने आते हैं।

संकलन में शुद्ध प्रकृतिवर्णन से संबंधित कविताएँ भी हैं। जैसे कि , 'साँझ के बादल' और 'एक छवि'। इन कविताओं में भी काम या प्रेम की भावना साथ ही रही है यथा - 'नवंबर की दोपहर' और 'मेघ दुपहरी' कविताओं में यह भावना स्पष्टत: दिखाई पड़ती है।

भाषा और अभिव्यक्ति की दृष्टि से निश्चय ही 'ठंडा लोहा' की अपेक्षा 'सात गीत वर्ष' अधिक सशक्त और सक्षम रचना है। कथ्य के अनुकूल शब्दादि का चयन करना भारती की महत्वपूर्ण विशेषता रही है , जैसा कि वे स्वयं कहते हैं कि 'भाषा भाव की पूर्ण अनुगामिनी रहनी चाहिए बस ! न तो पत्थर का ढोका बनकर कविता के गले में लटक जाय और न रेशम का जाल बनकर उसकी पाँखों में उलझ जाए।''[1] इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि भारती भाव और भाषा का समन्वय करके चलनेवाले कवि के रूप में साहित्यजगत् में उभरते हैं।

स्फुट कविताओं का समग्रत: परीक्षण करने पर एक बात का पता चलता है कि भारती रोमांटिक व्यक्तित्व के कवि हैं। जिसमें पहले उन्मुक्त, उद्दाम यौवन का दर्शन होता है , तो बाद की कविताओं में नियुक्त प्रेयसी की वियोग भावना का। और अन्ततोगत्वा यही भावना जनवादी स्वर में परिणत होने का प्रयास

1. धर्मवीर भारती-व्यक्ति और साहित्यकार : डॉ. पुष्पा वास्कर, पृ.41

करती है।

कनुप्रिया :- युवा वर्ग में लोकप्रियता के कीर्तिमान स्थापित करने वाली सन् 1959 में प्रकाशित 'कनुप्रिया' भारती की 'अंधायुग' के बाद की महत उपलब्धि है। क्षणवादी धारणाओं, अस्तित्ववादी दर्शन, को कवि ने राधा और कृष्ण के प्रणय की विविधता के माध्यम से व्यक्त किया गया है। भारती स्वयं 'कनुप्रिया' की भूमिका में कहते हैं कि - 'लेखक द्वारा पिछले दृश्यकाव्य में एक बिन्दु से इस समस्या पर दृष्टिपात किया जा चुका है , गांधारी, युयुत्सु और अश्वत्थामा के माध्यम से। 'कनुप्रिया' उनसे सर्वथा पृथक, बिलकुल दूसरे बिन्दु से चलकर भी उसी समस्या तक पहुंचती है।'[1]

भारती का कवि इस कृति में न तो परम्परा को नकारता है और न ही नवीन युगबोध को।[2] राधा के प्रणय संवेदन के माध्यम से जीवन को समझने का सफल प्रयास 'कनुप्रिया' में हुआ है। 'कनुप्रिया' काव्यपूर्वराग, मंजरी परिणय, सृष्टि संकल्प, इतिहास समापन नामक पाँच अध्यायों में गुम्फित है। इस काव्य में कथा तो नाममात्र की है।

समस्त कृति में विभिन्न परिस्थितयों की गहन प्रतिक्रियाएँ अभिव्यक्त की गई हैं। राधा (प्रिया) तथा कृष्ण (कनु) की प्राचीन प्रणयगाथा को नवीन धरातल पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। स्वयं भारती इस काव्य की भूमिका में स्वीकार करते हैं कि -' भावाकुल चरम तन्मयता ही इस कृति में

---

1. कनुप्रिया : धर्मवीर भारती, पृ.6
2. कनुप्रिया - एक अध्ययन : अपर्णा खरे, पृ. 8

मुख्य है। अतः इसमें जीवन के स्थूल मूल्यों की अपेक्षा सूक्ष्म मूल्यों का उद्घाटन अधिक मात्रा में हुआ है।' वैसे भी भारती भावुक कवि के रूप में अधिक जाने जाते हैं। वस्तुतः 'कनुप्रिया' में राधा और कृष्ण के माध्यम से भावुकता का ही चित्रण किया गया है। संक्षेप में कहें तो राधा और कृष्ण की प्रणयभावना से जीवन की अनेक समस्याओं का एक साथ समाधान प्रस्तुत किया गया है। पर माँसलता के मोह से भारती यहाँ भी मुक्त नहीं हो पाये हैं, देखें -

'तुम फिर उसी गहरे प्यार को दोहराने के लिए
मुझे आधी रात जगाते हो
आहिस्ते से,ममता से-
और मैं फिर जागती हूँ
संकल्प की तरह
इच्छा की तरह।
और लो
वह आधी रात का प्रलय शून्य सन्नाटा
फिर
काँपते हुए गुलाबी जिस्मों
गुनगुने स्पर्शों
कसती हुई बाँहों
अस्फुट सीत्कारों
गहरी सौरभ-भरी उसाँसों

और अन्त में एक सार्थक शिथिल मौन से

आबाद हो जाता है

रचना की तरह

सृष्टि की तरह-

और मैं फिर थककर सो जाती हूँ।'[1]

इस कृति के संबंध में डॉ.हुकुमचंद राजपाल लिखते हैं कि - 'कनुप्रिया (राधा) की भावाकुल तन्मयता सारे काव्य पर आच्छादित है। साथ ही कवि ने राधा के माध्यम से एक ऐसे आधुनिक व्यक्ति के प्रति अपना प्रश्न तथा आग्रह पेश किया है ,जिसका रोमांटिक बोध की अपेक्षा अस्तित्वबोध से अधिक संबंध है। समस्त रचना में इसी कारण 'क्षण' की महत्ता प्रतिपादित की गई है।'

कुछ आलोचकों ने 'कनुप्रिया' को इसी भाव तन्मयता के कारण खंडकाव्य मानने से आपत्ति उठाई है क्योंकि , इसमें वर्णनात्मक तारतम्य के रूप में कथानक का विशुद्ध काव्य मात्र मानना चाहिए।

यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि 'कनुप्रिया' की सीमाएँ परोक्षत: भारती के कवित्व की अथवा उनके व्यक्तित्व की सीमाएँ भी कही जा सकती हैं। सच यही है कि -'भारती ने अपनी आँखों पर आस्था की, प्रेम की, तन्मयता की, मानवीयता की, भागवत् की और ऐसी ही अन्य दूरबीनें लगाकर विग्रह को, संघर्ष को, नृशंसता को एवं महाभारत को परखा है। कनुप्रिया में हम कैशोर्य सुलभ भावुकता का चरम विकास पूरी परिपक्वता के साथ विद्यमान पाते हैं।

1. कनुप्रिया-एक अध्ययन : अपर्णा खरे, पृ. 35

इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि भारती की 'कनुप्रिया' अपने विस्तार की भूमि व्यापक बनाती। इस भूमि में एक ओर सिद्धों की सहज साधना का महासुख है, दूसरी ओर वैष्णवों का महाभाव है, और तीसरी ओर पश्चिम के अस्तित्ववादी दार्शनिकों का बोध है।'[1]

राधा का व्यक्तित्व वैष्णव भक्ति के रसायन से बना है। राधा कनु को अपना एकमात्र अंतरंग सखा मान चुकी है, उसे अपना सर्वस्व मान चुकी है , उसके आलिंगन में झूल गई है, उसके वंशीवादन से पगला गई है और सब छोड़कर अपने-आप को समर्पित करने दौड़ पड़ी है -

'और सच-सच बताऊँ तुझे कनु साँवरे !
कि उस समय मैं बिलकुल भूल गई हूँ
कि मैं कितनी छोटी हूँ
और तुम वही कान्हा हो
जो सारे वृन्दावन को
जल प्रलय से बचाने की सामर्थ्य रखते हो।'[2]

अंधायुग (नाट्य काव्य) :- 'अंधायुग' में महाभारत कालीन संदर्भो द्वारा वर्तमान की कथा व्यक्त की गई है। यह सन् 1954 की रचना है। महाभारत के कथानक के माध्यम से युगीन समस्याओं का चित्रण इस कृति में हुआ है। प्रस्तुत कृति में प्रख्यात महाभारत के कथानक के साथ कुछ स्वकल्पित

1. धर्मभारती : सम्पादक-एल.डी. गौतम (रमेश कुंतल का लेख), पृ. 188
2. कनुप्रिया : धर्मवीर भारती, पृ. 35

पात्र, घटनाओं के उत्पाद्य कथानक का सार्थक समन्वय है। अतः यह कहा जा सकता है कि - इस कृति में ऐतिहासिकता और पौराणिकता के साथ काल्पनिक दृष्टि का समायोजन हुआ है।[1]

'कवि का मंतव्य अनास्था, अविश्वास, अमर्यादा, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध एवं आत्मघात आदि की चर्चा करते हुए अन्ततः आस्था, विश्वास, मर्यादा, सत्य, धर्म,श्रद्धा एवं सद्भाव आदि वृत्तियों की महत्ता को प्रतिष्ठित करना है।'[2]

इस कृति के कथानक को पाँच अंको में विभाजित किया गया है। इसमें महाभारत के उत्तरार्द्ध अर्थात् महाभारत युद्ध के अठारहवें दिन की संध्या से लेकर प्रभास तीर्थ में कृष्ण की मृत्यु तक की कथा का समावेश है।[3] इस प्रख्यात कथावस्तु में कवि ने नये संदर्भ , नयी समस्याएँ, युद्ध की अणुसंस्कृति और अनास्थाओं आदि की उत्पाद्य वस्तु के रूप में समावेश किया है। अंकानुसार कथा देखें तो स्थापना, मंगलाचरण के पश्चात् प्रथम अंक में कौरवनगरी का वर्णन है। द्वितीय अंक में संजय का असमंजस की स्थिति में प्रवेश , अश्वत्थामा, कृतवर्मा, कृपाचार्य आदि का परस्पर वार्तालाप है। जिसके द्वारा भारती वर्तमान युद्धों के लिए न्याय-अन्याय के स्थान पर कुंठा या प्रतिशोध ही कारणभूत है, यह बतलाना चाहते है। तृतीय अंक में- प्रारंभ में कथागायन, तत्पश्चात् कौरव पराजय तथा उनकी करुणायुक्त अवस्था का चित्रण है। इस अंक में धृतराष्ट्र,

1. अंधा युग- एक शैलीवैज्ञानिक अनुशीलन : डॉ. कमलेश त्रिवेदी, पृ. 24
2. धर्मवीर भारती साहित्य के विविध आयाम : हुकुम चन्द राजपाल, पृ. 47
3. अंधा युग- एक शैलीवैज्ञानिक अनुशीलन : डॉ. कमलेश त्रिवेदी, पृ. 25

विदुर, गांधारी, युयुत्सु का संवाद है। अश्वत्थामा की प्रतिशोध की भावना इस अंक से प्रबल हो उठती है। इसके बाद अन्तराल आता है, जिसमें कवि ने प्रेतलोक-सा काल्पनिक वातावरण और संवाद प्रस्तुत किया है। चतुर्थ अंक में गांधारी द्वारा शाप देने की प्रमुख घटना है। यह अंक अत्यन्त भयानक वातावरण उपस्थिति करता है , क्योंकि अश्वस्थामा द्वारा धृष्टद्युम्न, शिखंडी व अन्य योद्धाओं का वध करना, साथ में उत्तरा के गर्भ पर ब्रह्मास्त्र गिराने के कारण कृष्ण द्वारा अश्वत्थामा का शापित होना , अश्वत्थामा की शापित स्थिति को देखकर गांधारी का कृष्ण को शाप देना और कृष्ण द्वारा शाप को स्वीकार करना आदि घटनाएँ मानव-मन को हिला देती हैं। पाँचवें अंक का प्रारंभ भी कथागायन से होता है। बाद में, विजय के बाद पांडवों में हर्ष की जगह व्यथा है, पीड़ा है । युधिष्ठिर चिन्तित दिखाई देते हैं। धृतराष्ट्र-गांधारी वन की आग में जलकर मर जाते हैं। युयुत्सु आत्महत्या कर लेता है। समापन में यादव कलह तथा कृष्ण की व्याघ्र द्वारा मृत्यु होने की घटना है, जिसमें शिकारी को याचक की प्रेतात्मा बताया गया है।[1]

कुछ समीक्षकों ने अंधा युग को 'उत्पीड़क विवेक का विस्फोट' कहा है। यह धारणा पूर्वाग्रह युक्त प्रतीत होती है। क्योंकि 'उत्पीड़क अवस्था में लेखनी विक्षिप्त साहित्य का सृजन करती है किन्तु भारती के काव्य में गिरी हुई संस्कृति खण्डहरों के प्रतिकिसी व्यंग्य, कड़वाहट अथवा विक्षिप्तता का दृष्टिकोण नहीं मिलता। कुत्सित एवं खण्डित आयामों का उद्घाटन कर कवि ने इनका

1. अंधा युग- एक शैलीवैज्ञानिक अनुशीलन : डॉ. कमलेश त्रिवेदी, पृ. 24

पर्यावसान पुनः आस्था में व्यंजित किया है।'[1]

मानव-मूल्यों के प्रतिपादन की दृष्टि से भी 'अंधा युग' का विशेष महत्व है। परम्परागत् एवं सामयिक मूल्यों का जितना संघर्ष इसमें व्यंजित है उतना किसी अन्य कृष्ण-काव्य में नहीं। यहाँ कृष्ण मात्र परमात्मा अथवा नेता के रूप में ही चरितार्थ नहीं किये गये हैं, वरन कवि ने कृष्ण को गांधारी एवं अश्वत्थामा से अनेक प्रसंगों में अन्यायी घोषित कराकर उन्हें अनेक सम्बोधन दिये हैं।[2]

भारती के अनुसार- 'कुण्ठा, निराशा, कुरूपता, अंधापन- इनसे घबराना क्या ? इन्हीं में तो सत्य के दुर्लभ कण छिपे हुए हैं, तो इनमें क्यों न निडर धंसू। इनमें धंसकर भी मैं मर नहीं सकता।' [3]

नदी प्यासी थी (एकांकी संग्रह) :- भारती ने अपनी कलम सिर्फ काव्य (कविता) रचना तक ही सीमित नहीं रखी। उन्होंने एकांकियों की भी रचना की है। जिसमें रंगमंचीय तथा रेडियो एकांकी प्रमुख है। सन् 1954 में प्रकाशित एकांकी संग्रह 'नदी प्यासी थी' में पाँच एकांकी संग्रहीत हैं - नदी प्यासी थी, नील झील, आवाज का नीलाम, संगमरमर पर एक रात तथा पाँचवा एकांकी रेडियो एकांकी है - सृष्टि का आखिरी आदमी। अतः प्रथम चार रंगमंचीय एकांकी तो एक रेडियो एकांकी है।

'नदी प्यासी थी' का घटनाकाल 1949 की बरसात का है। यह तीन दृश्यों

1. धर्मवीर भारती साहित्य के विविध आयाम : हुकुम चन्द राजपाल, पृ. 55
2. तदैव, पृ. 56
3. अंधा युग : धर्मवीर भारती , पृ. 1

में विभक्त है। सारी घटना शंकर, शीला, राजेश शर्मा, पद्मा तथा डॉ. कृष्ण स्वरूप कक्कड़ के आसपास घूमती है। प्रथम दृश्य का आरम्भ लड़की के सुसज्जित कमरे के मंचीय संकेत तथा शंकर के शेव करने से होता है। किसी के दरवाजा खटखटाने पर लगता है कि राजेश आ गया है। शंकर अपनी पत्नी शीला को आवाज लगता है। बातचीत के दौरान शंकर राजेश से कहता है कि- 'भावुक तो वह था, पर मन को बांध कर रखने वाले राजेश को क्या हो गया है?' उत्तर में राजेश कहता है कि - 'हाँ दोस्त ! लेकिन मन की नदी का बाँध फूट ही गया। और फिर तो इतनी भयानक बाढ़ आई कि जाने कितनी मान्यताएँ टूट गईं, कितने संस्कार उखड़ गए और धार इतनी तेज थी कि मित्र पाँव तले की धरती तक बह गई.... ।' इस एक ही संवाद से पाठक/दर्शक राजेश की मन:स्थिति से परिचित हो जाता है।[1]

प्रस्तुत एकांकी छोटा होते हुए भी अपनी अमिट छाप छोड़ जाता है। राजेश, कृष्ण और पद्मा के पारस्परिक संवाद तथा शीला और शंकर के वार्तालाप से भारती ने चरित्रों को उभारा है। इस एकांकी के घटना, पात्र, संवाद एवं अन्य सभी तत्व रंगमंच की दृष्टि से उपयुक्त है। हिन्दी एकांकी परंपरा में इसका विशिष्ट स्थान होना ही स्वत: यह बात सिद्ध करता है कि - भारती नाटक एवं रंगमंच के प्रति कितने सजग हैं।[2]

दूसरा एकांकी 'नीली झील' है, जिसका रचनाकाल सन् 1950 है। 'नीली

1. धर्मवीर भारती साहित्य के विविध आयाम : हुकुम चन्द राजपाल, पृ. 55
2. अंधा युग- एक शैलीवैज्ञानिक अनुशीलन : डॉ. कमलेश त्रिवेदी, पृ. 25

झील' में तांत्रिक तथा उसकी तीन आत्माहीन संतानों की कथा है। कथानक की दृष्टि से इसमें स्थूल की अपेक्षा प्रतीकात्मक शैली दिखाई पड़ती है। एकांकी का प्रारम्भ मंचीय संकेत से होता है जिसमें झील के आसपास के परिवेश की सूचना दी गई है। नीली झील को सम्बोधित करते हुए उसका बूढ़ा तांत्रिक आता है तथा झील को सदैव रस संचार करने तथा सभी को जीवन प्रदान करने वाली घोषित करता है।[1]

इस एकांकी में कहानी नाममात्र की है। ऐसा प्रतीत होता है मानो लेखक एक साथ अनेक लक्ष्यों की सिद्धि चाहता है। तांत्रिक महत्वपूर्ण प्रमुख पात्र है। यह इसमें उपदेशक के रूप में सामने आता है तांत्रिक की तीन संतानें बाह्यजीवन को भोगने हेतु आत्मा की खोज़ में आती है। भारती ने एक ओर आत्मा की महत्व पर प्रकाश डाला है और दूसरी ओर युग की वैज्ञानिकता एवं युद्ध विभीषिकाओं की ओर भी संकेत किया है। इस एकांकी में भारती ने चरित्रों के विकास की अपेक्षा स्थिति की व्यापकता के उद्घाटन का अधिक यत्न किया है। संवाद और भाषा में रंगमंच को बखूबी ध्यान में रखा गया है।

'आवाज़ का नीलाम' सन् 1947 के घटनाकाल में लिखा गया तीसरा एकांकी है। इसमें दो ही पात्र मंच पर आते हैं। पत्रकार दिवाकर तथा सेठ बाजोरिया। अन्य पात्र उल्लेख के रूप में आते है।[2] निडर, साहसी पत्रकार के रूप में दिवाकर अपनी पत्नी की बीमारी के कारण अपनी 'आवाज़' (अख़बार)

1. धर्मवीर भारती साहित्य के विविध आयाम : हुकुम चन्द राजपाल, पृ. 85

2. तदैव, पृ. 91

सेठ बाजोरिया को बेचता है , परन्तु पत्नी की मृत्यु हो जाती है। तत्पश्चात् दिवाकर अपनी आवाज़ वापस लेने लाता है , परन्तु खरीदी आवाज़ वापस मिलने के बजाय उसे पागलपन मिलता है। 'आवाज़ का नीलाम' शीर्षक दोहरा अर्थ रखता है। इस एकांकी का कथ्य एकदम संक्षिप्त है।

भारती ने सेठ बाजोरिया के माध्यम से ऐसे लोगों की वास्तविक स्थिति को उद्घाटित करना चाहा है जो अपने स्वार्थ के लिए अपने मित्र तक की गर्दन काट सकते हैं और सरकार के चमचे बनने का सौभाग्य ग्रहण करते हैं। दूसरी ओर सच्चे पत्रकारों को सही-सच्ची आवाज़ के लिए अपने घर-बार यहाँ तक कि पत्नी से भी हाथ धोना पड़ता है।

'संगमरमर पर एक रात' एकांकी का घटनाकाल जहाँगीर का शासनकाल है। इसमें जहाँगीर के राज्यकाल की घटनाओं का वर्णन है। पात्रों में - मेहरुन्निसा, लाड़ली, जहाँगीर, शेर अफगन, परवेज तथा बाँदी आते हैं। कथा दो दृश्यों में विभक्त है। सारी घटनाएँ मेहरुन्निसा के इर्द-गिर्द घूमती हैं। इस एकांकी में मेहरुन्निसा का जहाँगीर के साथ संबंध, बेवा बनना, तथा पुनः उसकी बेगम बनना आदि प्रमुख घटनाएँ हैं। शहज़ादे परवेज एवं पुत्री लाड़ली का संबंध एवं विच्छेद भी उक्त घटना से जुड़ जाते हैं। संवाद तथा भाषा के माध्यम से इस एकांकी में पात्रों का चारित्रिक विकास व स्थिति की स्पष्टता सहज रूप में हुई है। इस एकांकी में औरतों के बारे में कहे गए कुछ संवादों से

1. धर्मवीर भारती साहित्य के विविध आयाम : हुकुम चन्द राजपाल, पृ. 92

2. भारती के एकांकी : डॉ. के. डी. शर्मा, पृ. 43

भारती की मानसिकता समझी जा सकती है। यथा - 'औरतों की भावुकता से डर लगता है।'[1] या 'औरत ज्यों-ज्यों जिन्दगी भोगती है, त्यों-त्यों खोखली होती चली जाती है।'[2]

अस संग्रह का अंतिम एकांकी 'सृष्टि का आखिरी आदमी' है, जिसे भारती ने स्वयं रेड़ियो-छन्द - नाट्यघट नाम दिया है। इसे रेडियो एकांकी मानने में कोई आपत्ति नहीं है।[3] वैसे भी शैली तथा रूप की दृष्टि से यह अन्य एकांकियों से अलग पड़ता है। इसमें भारती का कवि रूप स्पष्ट झलकता है। इस एकांकी में उद्घोषक, भीड़ का एक व्यक्ति, शासक, वैज्ञानिक, भीड़ और सेना पात्रों के रूप में आते हैं। प्रस्तुत एकांकी में कथानक की अपेक्षा स्थिति (वातावरण) को अधिक महत्ता दी गई है। पुरानी सृष्टि के विनाश तथा नई सृष्टि के प्रादुर्भाव, सृष्टि के आखिरी आदमी से लेकर नई सृष्टि के मनु तक सभी मिलते है। व्यंग्य का सार्थक एवं उचित प्रयोग हुआ है। वस्तुतः इस एकांकी में भारती ने प्रलय एवं विनाश की चरम स्थिति का उद्घाटन करते हुए नवीन सृष्टि के निर्माण की सूचना दी है। संक्षिप्त मंचीय संकेत से एकांकी का प्रारम्भ होता है, जिससे राजाज्ञा के समय होने वाले तुरही, शंख तथा नक्कारे की आवाज आती है।

उपन्यास :- भारती की पहली प्रकाशित कृति उपन्यास ही था। भारती ने यूँ तो केवल दो ही उपन्यास लिखे हैं - 'गुनाहों का देवता' तथा 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' किन्तु इन उपन्यासों ने उन्हें उपन्यासकार के रूप में उसी तरह

1. नदी प्यासी थी : धर्मवीर भारती, पृ. 80
2. तदैव, पृ. 91
3. अंधा युग- एक शैलीवैज्ञानिक अनुशीलन : डॉ. कमलेश त्रिवेदी, पृ. 25

किन्तु इन उपन्यासों ने उन्हें उपन्यासकार के रूप में उसी तरह अमर कर दिया है जिस तरह चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' को 'उसने कहा था' कहानी ने अमर कर दिया।

गुनाहों का देवता :-

प्रेम, वासना और आदर्श के चक्रव्यूह के इर्द-गिर्द घूमता 'गुनाहों का देवता' कथ्य और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त मार्मिक और प्रभावी उपन्यास है। उपन्यास का नायक चन्दर मेधावी छात्र होने के साथ-साथ एक आदर्शवादी रोमांटिक युवक भी है। चन्दर के रहने-खाने की व्यवस्था डॉ. शुक्ला ने की थी। सुधा उनकी इकलौती बेटी है। दोनों के बीच प्रेम का विकसित होना सहज ही था। सुधा का विवाह जब कैलाश से तय हो जाता है सुधा उसका विरोध करती है, परन्तु चन्दर प्रेम में शरीर को महत्वपूर्ण नहीं मानता है इसीलिए सुधा को विवाह कर लेने के लिए बाध्य करता है। सुधा का ससुराल जाना चन्दर को विचलित कर देता है। ऐसे में पम्मी का प्रवेश होता है और वह चन्दर के जीवन में उन्माद और वासना का झरना बनकर बहने लगती है। किन्तु कुछ ही दिनों में वह चन्दर से ऊब जाती है और उसे छोड़कर चली जाती है।

अब चन्दर को अपने तथाकथित 'देवत्व' के खोखलेपन का अहसास होता है और वह गुनाहों का शिकार होता रहता है। इस बीच सुधा गर्भवती होती है, किन्तु उसका गर्भपात हो जाता है और इसी कारण उसकी मृत्यु हो जाती है। मरते दम तक वह चन्दर का नाम जपती रहती है। उपन्यास के अन्त में चन्दर

बिनती से विवाह कर उसे सुधा के स्थान पर प्रतिष्ठित कर देता है।

'गुनाहों का देवता' का कथानक इतना कसा हुआ है कि पाठक एक बार उपन्यास पढ़ना प्रारम्भ करता है तो फिर बीच में छोड़ने का मन ही नहीं होता। यही भारती के लेखन की सबसे बड़ी सफलता है।[1]

मध्यमवर्गीय समस्याओं और विडम्बनाओं का बहुत ही मार्मिक ढंग से चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। इसमें भारती ने पुरुष और नारी के पारस्परिक बाह्य संबंधों के साथ उनके अन्तर्मन को देखने का प्रयास किया है। उपन्यास में चंदर और सुधा अन्त तक छाये रहते हैं। साथ में आनेवाले पात्रों में कैलाश, डॉ. शुक्ला , बिनती, गेसू, रवीन्द्र बिसारिया, बुआ, पम्मी (पामिला डिक्रूज) आदि हैं। सभी पात्र चंदर और सुधा के चारित्रिक विकास में प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में सहायक हैं। प्रासंगिक कथाएँ मुख्य कथा को पुष्ट करने का काम करती हैं। ये हैं पम्मी और बंटी के साथ चंदर की कथा, बुआ की कथा, गेसू की कथा आदि। प्रेम की समस्या पर आधारित इस उपन्यास में प्रेम के साथ सामाजिक , मध्यवर्गीय, ग्रामीण एवं शहरी वातावरण, व्यक्तिगत आदर्श, पारिवारिक संबंध आदि अन्य संदर्भों को भी समाहित किया गया है।[2]

सूरज का सातवाँ घोड़ा :-

भारती का यह उपन्यास बहुचर्चित है। किसी आलोचक ने इसे लघु उपन्यास, किसी ने लम्बी कहानी तो किसी ने उपन्यास मानने से इन्कार किया

1. अंधा युग- एक शैलीवैज्ञानिक अनुशीलन : डॉ. कमलेश त्रिवेदी, पृ. 25
2. तदैव , पृ. 26

है। तथापि अज्ञेय जैसे मूर्धन्य आलोचक ने इसे उपन्यास के क्षेत्र में एक नवीन प्रयोग कहकर पारंपरित ढाँचे पर लिखे जाने वाले उपन्यासों से अलग, नई टैंकनीक एवं अंदाज का उपन्यास कहा है। इस मत की पुष्टि आचार्य विनयमोहन शर्मा, अश्क, डा. बच्चनसिंह, डॉ. सत्यपाल चुघ, डॉ. प्रेम भटनागर आदि करते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' उपन्यास के क्षेत्र में एक नयी उपलब्धि है। इस पर इसी नाम से एक फिल्म भी बन चुकी है।

इस उपन्यास में पारंपरिक उपन्यासों की भाँति एक कथानक नहीं वरन् अलग-अलग पाँच कहानियाँ है, जिसका स्वतंत्र अस्तित्व है। तथापि इन पाँच कहानियों के बीच पर परस्पर सूत्रबद्धता है, क्योंकि सभी कहानियों का प्रत्यक्ष व परोक्ष संबंध उपन्यास के मुख्य पात्र माणिक मुल्ला से रहा है। प्रस्तुत उपन्यास में मुख्य पात्र माणिक मुल्ला है जो कहानियाँ कहता है। अन्य पात्रों में जमुना, तन्ना, लिली, महैसर दलाल, रामधन आदि है। सभी कहानियाँ प्रतीकात्मक हैं। इस उपन्यास का क्रमशः कथाभाग इस प्रकार है - 'पहली दोपहर, दूसरी दोपहर, तीसरी दोपहर, चौथी दोपहर, पाँचवी दोपहर, छठी दोपहर और सातवीं दोपहर'। बीच में 'अध्ययन' भी कुछ भाग में आता है जहाँ पर घटनाओं की स्थिति एवं कथा को गति देनेवाली बातों का वर्णन है।

प्रस्तुत उपन्यास में माणिक असफल प्रेमी, सामाजिक विषमताओं के कारण बनता है। जमुना का भी तन्ना से इसी कारण चाहते हुए भी विवाह नहीं

हो पाता है। तन्ना भी अपने पिता द्वारा धनाढ्य युवती लीला से शादी करता है, परन्तु सुखी नहीं होता है। जमुना भी अपने से बड़ी उम्रवाले दिहाजू से ब्याहने के कारण पारिवारिक, सामाजिक , मानसिक दुःख भोगती है। दूसरी ओर चमन ठाकुर और महेसर दलाल द्वारा संतों कामवासना का शिकार बनती है फिर भी, संतो के भाई द्वारा संतो पुनः चमन ठाकुर को सौंपी जाती है।

भारती ने अपने नवीन दृष्टिकोण से समाज एवं व्यक्ति की विभिन्न समस्याओं को परंपरागत उपन्यासों की कथानक एवं गठन पद्धति से अलग एक नये प्रयोग के रूप मे अभिव्यक्त किया है।[1]

ग्यारह सपनों का देश :-

यह यद्यपि भारती की स्वतंत्र कृति नहीं है किन्तु इसमें सबसे ज्यादा योगदान भारती का ही है। उदयशंकर भट्ट, रांगेय राघव, प्रभाकर माचवे, कृष्णा सोबती आदि नौ लेखकों का एक-एक अध्याय तथा भारती के दो अध्याय मिलाकर एक उपन्यास तैयार करने का हिन्दी में यह अपनी तरह का दूसरा प्रयोग था। इस प्रयोग की विफलता को कैलाश जोशी ने इस तरह रेखांकित किया है- 'ग्यारह सपनों का देश दस लोगों का सपना है जो सचमुच सपना बनकर रह गया है, उपन्यास नही बन पाया है। और उपन्यास बनना कैसे संभव था; दस सपनों से भला एक उपन्यास की सृष्टि कैसे संभव है।'[2]

1. अंधा युग- एक शैलीवैज्ञानिक अनुशीलन : डॉ. कमलेश त्रिवेदी, पृ. 27
2. धर्मवीर भारती- उपन्यास साहित्य : कैलाश जोशी, पृ. 26

कहानियाँ :-

भारती के तीन कहानी संग्रह हैं - 'मुर्दों का गाँव', 'बंद गली का आख़िरी मकान' तथा 'चाँद और टूटे हुए लोग'। भारती की कहानियाँ पढ़कर एक बात स्पष्ट होती है कि - उनमें कथ्य वैविध्य के साथ विविध समस्याओं की कलात्मक अभिव्यक्ति हुई है। अधिकांश कहानियों में उत्तरप्रदेशीय आँचलिकता दिखाई देती है।

'मुर्दों का गाँव' प्रथम कहानी संग्रह था जो बाद में 'चांद और टूटे हुए लोग' में शामिल कर लिया गया। उनकी प्रारंभिक कहानियों में कल्पना की उड़ान है, भावनात्मक संबंधों के प्रति अत्यधिक आसक्ति है जबकि बाद की कहानियों में जीवन, परिवार एवं समाज के यथार्थ पक्ष का प्रभावपूर्ण उद्घाटन किया गया है।

चाँद और टूटे हुए लोग : -

इस कहानी संग्रह में पच्चीस कहानियाँ संकलित हैं। यह तीन खंडों में विभाजित है। 'चाँद और टूटे हुए लोग' शीर्षक वाले प्रथम खंड में हरिनाकुस और उसका बेटा, कुलटा, मरीज़ नंबर सात, धुआँ युवराज, अगला अवतार तथा चाँद और टूटे हुए लोग कहानियाँ संकलित हैं।

दूसरे खंड में -'भूखा ईश्वर, मुर्दों का गाँव, एक बच्ची की कीमत, आदमी का गोश्त, बीमारियाँ, कफन-चोर, एक पत्र, हिन्दू या मुसलमान, कमल और मुर्दे कहानियाँ संकलित हैं।

1. धर्मवीर भारती साहित्य के विविध आयाम : हुकुम चन्द राजपाल, पृ. 131

तीसरे खंड का शीर्षक है 'कलंकित उपासना'। इसमें पूजा, स्वप्नश्री और श्रीरेखा, शिंजनी, कला एक मृत्युचिह्न , नारी ओर निर्वाण, तारा और किरण, कुबेर, मंजिल तथा कलंकित उपासना नामक कहानियाँ संकलित है।

'कलंकित उपासना' खण्ड में भारती के प्रारम्भिक दौर की कहानियाँ हैं। इन कहानियों के बारे में भारती ने लिखा है कि -'जिन्दगी के प्रवाह से लड़ती-झगड़ती उम्र धीरे-धीरे बढ़ती गई और हिन्दी का एक कहानीकार सहसा मन पर छा गया- जयशंकर प्रसाद।'[1] भारती के जीवन पर प्रसाद का गहरा प्रभाव है। इस कहानी संग्रह की 'पूजा' कहानी काव्यात्मक भाषा और रोमांस से भरपूर है। इसकी नायिका पूजा एक विधुर क्षत्रिय की 16 साल की पुत्री है। पिता ने स्वर्गवासी होने के पूर्व पूजा को लालन-पालन के लिए एक भागवत आचार्य को सौंप दिया। आचार्य के कलाकार शिष्य नक्षत्र का मन पूजा के उभरते लावण्य भंडार में डूब गया। पूजा भी कलाकार के प्रति समर्पित हो गई। परन्तु नियति ने पूजा को देवदासी बना दिया। आचार्य और सम्प्रदाय ने नक्षत्र को निर्वासित कर दिया। भारती की यह कहानी प्रसाद की 'देवरथ' कहानी की याद दिलाती है।[2]

एक अन्य कहानी 'स्वप्नश्री और श्री रेखा' में प्रेम त्रिकोण का वर्णन है। 'शिंजिनी' का कथानक 'पूजा' के समान ही है। प्रेम देवता अनेग की मृत्यु के बाद कामदेव के सत्य प्रेम को उनके प्रतीक रूप गंधर्वों की जनता अपने में से

1. पश्यन्ती : डॉ. धर्मवीर भारती, पृ. 46

2. चाँद और टूटे हुए लोग : धर्मवीर भारती, पृ. 164

एक शासक चुन लेती थी। राजपुरोहित इस बार चुने गए युवक किंजल्क को शासकत्व की शर्तें समझा रहे थे कि शासक का किरीट पहनने के बाद उसे आजीवन प्यासा ही रहना होगा। कामदेवता की यही सर्वप्रधान साध है। राजपुरोहित शिंजनी के माध्यम से किंजल्क की परीक्षा लेते हैं। उस समय तो किंजल्क शिंजनी से सहमत नहीं हुआ किन्तु अन्ततः देवत्व पिघल गया।[1]

कला, कलाकार, कला की प्रकृति, चरम परिणिति, सार्थकता की अंतिम पहचान आदि कला सम्बन्धी बुनियादी सवालों को उठाकर कलाकार अपनी कला के प्रति पूर्णतः समर्पित हो अन्यथा कला अपूर्ण ही रहेगी, इस बात की चर्चा 'कला : एक मृत्यु चिह्न' कहानी में मिलती है।[2]

'भूखा ईश्वर' इस कहानी संग्रह का वह महत्वपूर्ण मोड़ है जहाँ आकर भारतीअपनी रोमानी काव्यात्मकता, प्लेटोनिक प्रेम के प्रति आसक्ति, प्राकृतिक रंगीनियों के जादू और स्वप्नावस्था से जागकर अपने परिवेश के प्रति सचेत हो उठे हैं। यहाँ वे बदली हुई भूमिका में दिखते हैं। नारी के लावण्य के स्थान पर भारती ने यहाँ देखी है लाशों की लहलहाती फसल, भूखे, कंगाल, जानवरनुमा मनुष्य, पराई शक्तियों के दास हिन्दुस्तानी और पैसे-पैसे में औलाद बेचती माँएं। वे कह उठते हैं - '...जब कल्पना पृथ्वी का आश्रय छोड़ देती है; अन्न की सीढ़ियों से सम्बन्ध तोड़ देती है तब वह आकाश की नीली झाड़ी में चाँदी के काँटों में बिंधकर ऊपरी सतह पर ही उलझी रह जाती है-भूखी, प्यासी, दुर्बल, निकम्मी,

1. चाँद और टूटे हुए लोग : धर्मवीर भारती,पृ. 204

2. तदैव , पृ. 211

व्यर्थ। और हमारे हिन्दी के कलाकारों की आज यही दशा है। कलकत्ते की सड़कों पर भूखी लाशें सड़ती रहीं और हम भिनभिनाती हुई मक्खियों की तरह कवि सम्मेलन में उनकी छाती पर प्रेम के गीत पढ़ते रहे।'[1]

समाज के विभिन्न वर्गों एवं समस्याओं तथा स्वतंत्रता को विषय बनाकर लिखी गयी ये कहानियाँ भारती की बहुमुखी प्रतिभा के दर्शन कराती है।

बंद गली का आखिरी मकान :-

पूर्ववर्ती कहानियों की अपेक्षा 1969 में प्रकाशित इस कहानी संग्रह में संकलित कहानियाँ अधिक कलात्मक हैं । भारती की कथ्य एवं शिल्प के प्रति गहरी पैठ, संवेदना की चरम अवस्था एवं प्रत्येक स्थिति का सहज विकास आदि विशेषताएँ देखने को मिलती है।

प्रस्तुत कहानी संग्रह में कुल चार कहानियाँ हैं। गुल की बन्नो, सावित्री नंबर दो, यह मेरे लिए नहीं तथा बँद गली का आखिरी मकान। इन कहानियों में आनेवाले पात्र तथा व्यक्ति के अंतर एवं बाह्य दोहराव को लेखक ने बड़े कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। समसामायिक युग के दोहरे व्यक्तित्ववाले मनुष्य, विकृति, बौखलाहट, व्यंग्य, अनास्था, निराशा, आक्रोश, सामाजिक संबंध, सद्भाव, उदत्त प्रेम तथा अन्य मानवीय भावनाओं आदि को अभिजात्य रूप में प्रस्तुत किया है।

'गुल की बन्नो' में 25 वर्षीय गुलकी की दर्दनाक कहानी है। पति से उपेक्षित गुलकी ने बुआ के चौंतरे पर तरकारियों की दूकान खोल ली थी। एक

1. चाँद और टूटे हुए लोग : धर्मवीर भारती, पृ. 262

दिन झगड़ा हो गया तो बुआ ने दूकान तहस-नहस कर डाली। इसी समय गुलकी के पति ने उसे अपने पास बुलाया। सबको इस बात की खुशी हुई लेकिन गुलकी की सहेली सत्ती जानती थी कि गुलकी को पति के घर पहुंचकर सौत की सेवा करनी थी इसलिए उसने गुलकी के जाने का तगड़ा विरोध किया। पर गुलकी तो हर शर्त मानकर पति के घर जाने को तैयार थी। इस कहानी में मनुष्य के देवत्व और पशुत्व दोनों रूपों का निर्मम उद्घाटन हुआ है।

संग्रह की दूसरी कहानी 'सावित्री नम्बर दो' में बीमारी और एकाकीपन के अहसास के कारण सावित्री कुंठित, भावुक और विक्षिप्त होती चली जाती है। उसे अपनी जिन्दगी निरर्थक बोझ लगने लगती है। वह मायके में अपनी माँ और बहन के पास आ जाती है। अब वह अपने पति को जब-तब अपमानित करने लगी। पति ने संयम और समझदारी से काम लिया। सावित्री के पीड़ित अहं ने पागलपन का रूप ले लिया। वह पति और अपनी बहन को लेकर भी भद्दी बातें कहने लगी। इसी बीच सावित्री के पिताजी का चपरासी लड़का उसकी देखरेख के लिए आने लगा। सावित्री खाट पर पड़ी रहती और वह कभी कंधे, कभी हथेलियां, कभी बाँहें दबाता रहता। इधर बहन को लेकर सावित्री के झगड़े बढ़ने लगे। एक दिन तो सावित्री ने अपनी बहन सित्तो द्वारा परोसी गई थाली भी पति के आगे से खिसका ली। इस पर सित्तो ने भी विद्रोह कर दिया और सावित्री के पति से कहा कि 'खाना खाओ'। पति खाना खाने लगता है। उस दिन के बाद सावित्री फिर कभी नहीं लड़ी।

संग्रह की तीसरी कहानी 'यह मेरे लिए नहीं' का रिसर्च स्कॉलर दीनू गरीब

है, इसलिए चाचा के आश्रय में ट्यूशनें कर पढ़ाई जारी रखता है। दीनू की माँ दीनू द्वारा इकट्ठी की गई पाई-पाई पुराने घर को ठीक करने में बरबाद कर देती है। दीनू की माँ उसके चाचा-चाची से जलती थी। उसे लगता था कि उन्होंने दीनू को अपने वश में कर लिया है। कड़वाहट के इस वातावरण में दीनू को परना दीदी और सांजी मिली। सांजी का ब्याह हो जाने पर दीनू के जीवन में आस्था की ज्योति फैलाने वाला एक और दिया जला - अपर्णा। अपर्णा दीदी के प्रति भी दीनू पूर्णतः समर्पित है। इन दोनों के सम्बन्धों के बारे में अफ़वाहें फैलती हैं। माँ अब दीनू पर शासन करने के बजाय शासित की तरह रहने लगी है। बाद में अपर्णा वह मुहल्ला छोड़कर चली जाती है। इस कहानी में भारती ने न तो व्यक्तिवादिता का समर्थन किया है और नही समाजवादियों की नारेबाजी उन पर हावी है।

संग्रह की आखिरी कहानी है 'बन्द गली का आखिरी मकान'। इसमें गली-मोहल्ले के जीवन के यथार्थ का सफल चित्रण किया गया है।

निबंध :-

भारती के तीन निबंध संग्रह प्रकाशित हुए हैं। ठेले पर हिमालय, पश्यन्ती तथा कहनी-अनकहनी। निबंधों में टिप्पणीनुमा बड़े एवं छोटे आकार के तथा व्यंग्य आदि विषयों से संबंधित निबन्ध भी मिलते हैं।

भारती के निबंधों में विषय वैविध्य मिलता है। समसामायिक घटनाओं के द्वारा अनेक बुनियादी विषयों को लेकर वे अपनी बात अत्यंत मार्मिक एवं सरल रूप में कह देते हैं - जैसे कि भाषा के विवाद को लेकर उन्होंने 'कहनी-

अनकहनी' में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं - 'हिंदी साहित्य की ही एक बहुत प्यारी मंज़ी-गढ़ी भाषा शैली उर्दू है।' अपनी बात को कभी व्यंग्य तो कभी सरल भाषा शैली में - हिंदी- उर्दू, हिंदी - अंग्रेजी आदि के विवाद को व्यक्त किया है।

भाषा के अलावा साहित्य और उसमे भी आधुनिक साहित्य की विविध समस्याओं का विवेचन किया है। जैसे कि - 'पश्यन्ती' में वे कहते हैं कि - 'वर्तमान साहित्य में कुंठा का जो कि, पश्चिम से आयी है, उसको आवश्यकता से ज्यादा महत्व दिया है।

1958 में प्रकाशित 'ठेले पर हिमालय' भारती के निबन्धों का पहला संग्रह है। इनका विभाजन यात्रा विवरण, डायरी, पत्र, शब्दचित्र, साहित्यिक डायरी, संस्मरण, कैरीकेचर, व्यंग्य, रूपक आदि उपशीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है। प्रकाशकीय टिप्पणी इन सभी रचनाओं को ललित निबन्धों के अन्तर्गत ही रखती है। इनमें भारती वर्तमान साहित्य में मूल्यबोध के अभाव की बात उठाते हैं। आधुनिक साहित्य में सही रूप में, सही परिपेक्ष्य में समझकर मूल्यों को नहीं लिया गया है। व्यक्ति की निज़ी स्वतंत्रता का मूल्य तभी उचित होगा जब जन साधारण की मुक्ति की बात की जाय या सोचा जाय।

संक्षेप में - भारती ने अपने निबंधों में साहित्य, साहित्येतिहास, राजनीति, भाषा, कहीं पर हास्य-व्यंग्य शैली की प्रधानता, मूल्यबोध आदि को विविध रूप में चित्रित किया है। 'ठेले पर हिमालय' की अपेक्षा लालित्य की मात्रा

'पश्यन्ती' में कुछ कम हुई है। समय के साथ-साथ भारती का निबन्धकार काल एवं समाज सापेक्ष बनता है।अपने मन की गहराई में उतरने की अपेक्षा वह राष्ट्रीय समस्याओं को अपने लेखन का केन्द्र बनाता है।

निबंधों के अतिरिक्त भारती ने मृत्युलेख, श्रद्धांजलियाँ भी लिखी हैं , जैसे कि - 'कहनी-अनकहनी' निबंध संग्रह में जुगं की मृत्यु पर लिखा गया निबंध। निराला की मृत्यु पर लिखा गया निबंध - 'संत मुए का रोईए'। 'अपनी ही मौत' पर भारती ने मृत्युलेख निबंध लिखा है। भारतेन्दु पर लिखा गया निबंध - 'मैं चाँद के कलंक को प्यार करता हूँ' आदि भी हैं ।

भारती ने कुछ संस्मरण भी लिखे हैं , जैसे - 'ठेले पर हिमालय' में संकलित 'उसने कहा था : एक संस्मरण' तथा पश्यंती में संकलित 'आत्मकथ्य' के अंतर्गत 'नवलेखन : माध्यम मैं' तथा 'एक घृणा अनेक आयाम', 'शुक्र तारेवाली एक शाम ' आदि में अत्यंत सुंदर वर्णन प्राप्त होते हैं । यात्रा संबंधी संस्मरणों में - 'ठेले पर हिमालय' में दो यात्रा संस्मरण संकलित है , यथा - 'ठेले पर हिमालय' एवं 'कूमाँचल में कुछ दिन'। इन दो संस्मरणों से इस बात का पता चलता है कि भारती घूमने के ज्यादा शौकीन है। इसके अतिरिक्त भारती ने 'ठेले पर हिमालय' में दो शब्द चित्र भी संकलित किए है - 'आधी रात : रेल की सीटी' तथा पार्क, चिड़िया और सड़क की लालटैन।

'ठेले पर हिमालय' संकलन में भारती ने 'क्षणों की अथाह नीलिमा', 'केवल कौतुकवश' तथा 'एक सपना और उसके बाद' आदि डायरी के कुछ

पन्ने संकलित किए हैं , जिसमें जीवन का सहज रूप प्रतिफलित होता है।

आलोचना :-

साहित्यकार होते हुए भारती सीहित्य एवं साहित्येत्तर विषयों पर अपनी आलोचनात्मक प्रतिभा के दर्शन कराते है। उन्होंने दो आलोचना ग्रंथ भी लिखे हैं , जो बहुत महत्वपूर्ण हैं।

प्रगतिवाद : एक समीक्षा :-

नाम से ही स्पष्ट है कि प्रगतिवाद के विषय में आलोचना की होगी। इस ग्रंथ में भारती प्रगतिवाद, मार्क्सवाद का पूर्ण अध्ययन , विश्लेषण करते हैं । वे मार्क्सवाद की आरोपित धारणाओं का विरोध भी करते हैं। गुण-दोष के विषय में वे अपना निजी मत इस आलोचना ग्रंथ में व्यक्त करते हैं।

मानव मूल्य और साहित्य :-

भारती ने मानवमूल्य, साहित्य में मानव मूल्यों की उपादेयता, वर्तमान साहित्य में कहाँ तक उसका निर्वाह हुआ है। किस प्रकार साहित्य जनसाधारण और मानव को सही अर्थो में स्वतंत्र, मूल्यवान बनाता है ? आदि पहलूओं पर अपने विचारों को निर्भीक रूप से व्यक्त किया है। प्रस्तुत ग्रंथ तीन भागों में विभाजित है - मानवीय तत्वों का विघटन, नयी मर्यादा का उदय तथा नये मूल्य और विविध संदर्भ।

सिद्ध साहित्य (शोधग्रंथ) :-

सिद्धहस्त पत्रकार, प्रबुद्ध आलोचक, रूमानी कथाकार और भावुक हृदय भारती ने अनुसंधाता के रूप में अपने विचार अपने शोध प्रबंध 'सिद्ध साहित्य'

में प्रस्तुत किए हैं । उन्होंने डॉ. धीरेन्द्रवर्मा के निर्देशन में अपना शोध प्रबंध प्रस्तुत किया था।'सिद्ध साहित्य' पर भारती के कार्य को देखकर आश्चर्य होता है कि नये बोध, नवलेखन, नयी कविता के पक्षधर और मानव मूल्यों की आधुनिक परिप्रेक्ष्य में व्याख्या करने वाले भारती किसी भी विषय की गहनतम स्थिति से इस तरह भी परिचित हो सकते हैं। यह शोध प्रबन्ध तीन खण्डों तथा पाँच अध्यायों में विभाजित है। प्रथम खण्ड के प्रथम अध्याय में सामाजिक पृष्ठभूमि से पूर्व आधार सामग्री की चर्चा की है। इसमें दोहाकारों तथा पदकर्ताओं का कालक्रम तथा जीवन वृत्त प्रस्तुत किया गया है। साथ ही साधना केन्द्रों को राज्याश्रय के सम्बन्ध में विस्तार से बतलाया गया है।

द्वितीय अध्याय का सम्बन्ध वज्रयान की परम्परा से है। इसमें महायान का विकास क्रम प्रस्तुत करते हुए भारती ने उसके दर्शन पक्ष की चर्चा में शून्यवाद तथा विज्ञानवाद सम्बन्धी चर्चा भी प्रस्तुत की है।

तृतीय अध्याय का सम्बन्ध 'सिद्धान्त पक्ष' से है। इसे चार खण्डों में विभाजित किया गया है। चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत काव्य के भाव, शैली, भाषा और छन्द पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। इसे काव्य पक्ष का नाम दिया गया है। भाव पक्ष के साथ ही तन्त्र और काव्य शास्त्र, महाराग, सहज रस, नीति पक्ष इत्यादि उपशीर्षकों में विषय के अनुरूप चर्चा की गई है।

पंचम अध्याय का सम्बन्ध परवर्ती प्रभाव से है। सिद्धों की साम्प्रदायिक स्थिति के अन्तर्गत बौद्धेतर सम्प्रदायें के खण्डन की चर्चा है। भारती ने अपने शोध ग्रंथ में प्रतिपाद्य विषय को उदाहरण सहित स्पष्ट करने का सफल प्रयास

किया है। इससे इस बात का पता चलता है कि - आधुनिक साहित्यकार होने के बावजूद भारती की प्राचीन साहित्य में भी गति और सोच थी। आज भी अगर कोई विद्वान सिद्ध साहित्य पर काम करना चाहता है, तो भारती का यह शोध प्रबंध उसके लिए बड़े काम का सिद्ध होता है।

अनुवाद : -

वर्तमान युग में अनुवाद के महत्व को देखते हुए इसे भी अब साहित्य की एक पृथक विधा माना जाता है। धर्मवीर भारती जितने समर्थ लेखक थे उतने ही अच्छे अनुवादक भी थे। उन्होंने 'देशान्तर' नामक ग्रंथ में इक्कीस देशों की एक सौ इकसठ कविताओं का अनुवाद किया है। प्रस्तवना और समापन के अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रंथ में अमरिका , आर्जेन्टिना, इटली ,क्यूबा, इंग्लैन्ड आदि देशों में कविताओं का विभाजन है। साथ में प्रत्येक कवि के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की विशेषताओं का भी उल्लेख है । प्रस्तुत ग्रंथ पढ़ने पर कविता के अनुवाद के बारे में भारती के जो विचार है उसका बखूबी पता चलता है।

डॉ. श्याम परमार ने भारती के अनुवाद कौशल की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हुए कहा है कि

विभिन्न भाषाओं की कविताओं का छायानुवाद करने के साथ-साथ भारती ने ऑस्कर वाइल्ड की कई कहानियों का भी अनुवाद किया था , जो उनके नाम से ही प्रकाशित हैं।

'जिन्दगी और जिन्दगी की परछाइयों के बीच

संघर्ष करता हुआ

मेरा हृदय

लहूलुहान वन पशु की भाँति

गरजता हुआ

सभी पवित्र मान्यताओं को चीरता हुआ

दुनिया और उसकी समस्त वस्तुओं

पर गुर्राता हुआ

अपने अन्तहीन युद्ध नाट्य में व्यस्त

भय और भ्रम के बीच

उलझा हुआ

केन्द्र च्युत।'

विभिन्न भाषाओं की कविताओं का छायानुवाद करने के साथ-साथ भारती ने ऑस्कर वाइल्ड की कई कहानियों का भी अनुवाद किया था , जो उनके नाम से ही प्रकाशित हैं। 000

पंचम अध्याय

हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास

पंचम अध्याय

हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास

उद्‌भव एवं विकास :- भारत में हिन्दी पत्रकारिता के प्रारम्भ का इतिहास और उसके विकास का सिलसिला अनेक उतार-चढ़ावों से भरपूर रोचक कथाक्रम की भाँति है। प्रत्येक सिक्के के दो पहलू होते हैं। अंग्रेजों के आगमन ने भारत को एक शोषित राष्ट्र बनाया वहीं उनके शासन ने शोषण से मुक्ति के साधन भी सुझाये। भारतीय पत्रकारिता का प्रारम्भ अंग्रेज शासन काल से ही हुआ। हिन्दी पत्रकारिता के कालविभाजन तथा विभिन्न युगों की प्रवृत्तियों का विवेचन और विश्लेषण इसके सुसम्बद्ध अध्ययन के लिए आवश्यक है। पत्रकारिता सम्बन्धी ग्रंथों में अनेक प्रकार से काल विभाजन और युग निर्धारण किया गया है।[1]

इन काल निर्धारणों के अनेक मानक और प्रकार हैं। इन्हीं प्रकारों में से एक विभाजन तीन वर्गों में क्रमश: इस प्रकार है-

अ. स्वातंत्र्यपूर्व हिन्दी पत्रकारिता

ब. स्वातंत्र्योत्तर पत्रकारिता और

स. अधुनातन काल में विभक्त है।

1. हिन्दी पत्रकारिता : डॉ. राम विद्रोही, पृ. 9

स्वातंत्र्य पूर्व हिन्दी पत्रकारिता

स्वातंत्र्यपूर्व के इस काल में हिन्दी पत्रकारिता का आदि युग भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग तथा गांधी युग शामिल है। स्वातंत्र्यपूर्व की हिन्दी पत्रकारिता का आरम्भ सन् 1826 की 30 मई से होता है। कानपुर निवासी पं. जुगलकिशोर शुक्ल ने जो कलकत्ता के न्यायालय में लिपिक हुआ करते थे, प्रथम हिन्दी पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' के नाम से निकाला। यह पत्र हिन्दी भाषियों के लिए निकाला गया किन्तु बंगाल में हिन्दी के प्रचलित न होने के कारण तथा आर्थिक कठिनाइयों के कारण यह पत्र ज्यादा दिनों तक जीवित न रह सका। तब भी उदन्त मार्तण्ड की अकाल मृत्यु ने हिन्दी पत्रकारिता को एक दिशा दी।[1] मात्र डेढ़ वर्ष के अपने प्रकाशन काल में इस पत्र ने हिन्दी पत्रकारिता को बंगाल में अंकुरित कर दिया।

उत्तर प्रदेश से प्रकाशित होने वाला 'बनारस अखबार' हिन्दी का पहला साप्ताहिक पत्र था। यह पत्र सन् 1845 में बनारस के राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने प्रकाशित किया। लिपि देवनागरी होते हुए भी इसकी भाषा अरबी फारसी बहुल थी।[2] राजा साहब उर्दू के समर्थक थे और वे हिन्दुस्तानी नाम की दूसरी भाषा चलाने के पक्षपाती थे। भाषा के क्लिष्ट होने के कारण यह पत्र लोकप्रिय न हो सका। इस प्रकाशन के बाद काशी से सन् 1850 में 'सुधाकर' नाम का पत्र तारामोहन मैत्रेय नामक बंगाली सज्जन ने प्रारम्भ

1. हिन्दी पत्रकारिता के सिद्धान्त : आर.सी. त्रिपाठी, पृ. 49
2. तदैव , पृ. 50

किया। इसकी प्रसार संख्या 74 थी। सन् 1852 में आगरा से 'बुद्धिप्रकाश' का प्रकाशन पत्रकारिता की दृष्टि से ही नहीं भाषा व शैली के विकास की दृष्टि से भी विशेष महत्व रखता है। यह पत्र लाला सदासुखलाल के संपादकत्व में प्रकाशित होता था। 1855 में आगरा से 'सर्वहितकारक' पत्र शिवनारायण ने प्रकाशित किया। हिन्दी पत्रकारिता की कहानी भारतीय राष्ट्रीयता के विकास की कहानी है। प्रथम स्वतंत्रता संग्राम से पूर्व कुछ पत्रों ने आंदोलन को खूब भड़काया और उसका समर्थन भी किया।[1]

प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की विफलता के कारण राष्ट्रीय उत्साह कुछ समय के लिए ठंडा पड़ गया किन्तु पुनः सन् 1859 ई. में 'धर्मप्रकाश' नामक पत्र प्रकाशित हुआ। इसके बाद क्रमशः सूरजप्रकाश, सर्वोपकारक तथा तत्वबोधिनी हिन्दी पत्रिका जन्म हुआ। पत्रकारिता के क्षेत्र में ईसाई धर्म प्रचारकों ने भी सराहनीय कार्य किया। यद्यपि उनका उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार था किन्तु इस उद्देश्यपूर्ति के लिए उन्होंने भारतीय भाषा को अवलम्ब बनाया।[2] उन्होंने 'लोकमत' नामक पत्र सिकन्दरा से 1863 में प्रकाशित किया। उत्तर प्रदेश के पश्चिम भाग से हिन्दी पत्रकारिता अधिक पनपी। इटावा से प्रजाहित, आगरा से ज्ञानप्रकाश, भारतखंड मित्र, सर्वजनोपकारक प्रकाशित हुआ। सिकन्दरा से ही 'ज्ञानदीपक' पत्रिका भी निकाली गई। सन् 1868 तक भारत में विदेशी विचारधारा का खासा प्रभाव जम चुका था। विदेशी विचार

1. हिन्दी पत्रकारिता के युग निर्माता : डॉ. लक्ष्मीशंकर व्यास , पृ. 10
2. हिन्दी पत्रकारिता- इतिहास एवं स्वरूप : शिवकुमार दुबे , पृ. 26

और हाव-भाव से रंगी शिक्षा पद्धति ने परंपरावादी विचारधारा का लोप कर दिया।

समाज में अनेक सुधारवादी संगठनों ने जन्म लिया। इनमें मुख्य थे ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसायटी आदि। ये सुधारवादी संस्थाएँ प्रगतिवादी शिक्षित वर्ग ने बनाईं। इसी शिक्षित वर्ग ने पत्रकारिता को भी नई दिशा दी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का स्थान इस शिक्षित वर्ग में सर्वोपरि है।

भारतेन्दु युग

भारतेन्दु के आगमन से हिन्दी पत्रकारिता को विकसित होने के पर्याप्त अवसर उपलब्ध हो सके। 15 अगस्त 1867 को काशी से भारतेन्दु ने 'कवि वचन सुधा' नाम से एक मासिक पत्रिका का शुभारम्भ किया। प्रारम्भ में नाम के अनुरूप ही इसमें तत्कालीन प्रसिद्ध कवियों की कविताओं को प्रकाशित किया जाता था। यह पत्रिका 16 पृष्ठों की निकलती थी। इसके प्रथम अंक में प्रकाशित एक विज्ञापन से उस समय प्रचलित भाषा का पता चलता है।[1] यह विज्ञापन इस प्रकार है-'विदित हो कि जिन सुरसिकों को और गुण-ग्राहकों को 'कवि वचन सुधा' अर्थात जो कि हर महीने में एक बार प्राचीन कवियों के रचित काव्य 16 पृष्ठ में छापे जायेंगे उसको खरीदना मंजूर हो तो कृपा करके ख़त बनाम बाबू हरिश्चन्द्र, मोहल्ला चौखम्भा बनारस को भेजें या बनाम गोपीनाथ पाठक, मोहतमिम लाइट प्रेस, मौहल्ला दशाश्वमेध में भेजें। दाम पहले पृष्ठ में लिखा है

1. कवि वचन सुधा , 15 अगस्त 1867

और पहिले-पहल जिस महात्मा के यहाँ भेजा जाय यदि उनको लेना हो इत्तिला दें नहीं तो उसी समय फेर दें और अगर न फेरेंगे तो यह समझा जायेगा कि उन्हें लेना मंजूर है। फिर बराबर भेजा जायेगा और जो लोग इसकी मदद करेंगे, उनके नाम भी प्रकाशित किये जायेंगे।'

पाठकों ने इस पत्रिका का अच्छा स्वागत किया जिसके कारण जल्दी ही यह मासिक से पाक्षिक हो गई। इसमें पद्य के साथ-साथ गद्य का भी समावेश होने लगा। सात सालों में ही इस पत्रिका का व्यापक पाठक वर्ग तैयार हो गया, अतः इसे साप्ताहिक रूप से हिन्दी व अंग्रेजी दोनों भाषाओं में प्रकाशित किया जाने लगा। भारतेन्दुजी ने इसमें युगानुरूप लेख प्रकाशित कर राजनैतिक तथा सामाजिक बुराइयों की ओर जनसाधारण तथा सरकार का ध्यान आकृष्ट किया। यह समय अंग्रेजों के सामने हाथ जोड़कर खड़े रहने का था किन्तु भारतेन्दु निडर भाव से जनता-जनार्दन को झकझोर रहे थे। विभिन्न कारणों के चलते सन् 1885 में यह पत्रिका बन्द हो गई।[1]

इसी बीच सन् 1868 में प्रयाग से 'वृतान्त दर्पण' नामक एक पत्र सदासुखलाल के सम्पादकत्व में निकला, पर दो वर्ष बाद वह कानून का पत्र बना दिया गया।[2] सन् 1869 में मेरठ से 'मंगल समाचार', 'विद्यादर्श', आगरा से 'जगत् समाचार','जगदानन्द' और 'पापमोचन' तथा नैनीताल से 'समय विनोद' पत्रों का प्रकाशन हुआ। सन् 1875 में 'समय विनोद ' तथा 'सुदर्शन'

1. हिन्दी पत्रकारिता के सिद्धान्त : आर.सी. त्रिपाठी, पृ. 51
2. हिन्दी पत्रकारिता : डॉ. राम विद्रोही, पृ. 47

पत्र परस्पर मिल गए। इन्हीं दिनों अल्मोड़ा से 'अल्मोड़ा समाचार' नामक पत्र प्रकाशित हुआ। आगरा से 'एजुकेशनल गजट' उर्दू-हिन्दी में यूसुफ अली और अमीरुद्दीन के सम्पादकत्व में निकला था। इसकी हिन्दी में केवल 50 प्रतियाँ छपती थीं और इसका वार्षिक मूल्य 6 रुपये था। इसी समय बरेली से 'ब्रह्म ज्ञानप्रकाश' का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया।

शाहजहाँपुर से मुंशी बख्तावर सिंह के सम्पादकत्व में 'आय दर्पण' प्रकाशित हुआ। सन् 1871 में तो हिन्दी पत्रों की बाढ़ सी आ गई। कानपुर से 'हिन्दू प्रकाश' तथा प्रयाग से 'प्रयागदूत' प्रकाशित हुए। इसी वर्ष ईसाइयों ने भी दो पत्र निकाले थे, एक मेरठ से 'म्यूर गजट' तथा दूसरा सहारनपुर से 'सान्डर्स गजट'। 1872 में रायबहादुर सालिगराम ने आगरा से 'प्रेमपत्र' नामक पाक्षिक प्रारम्भ किया जिसके सम्पादक रुद्रदत्त थे।

सन् 1873 में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' नाम से एक मासिक पत्रिका निकाली, जिसका नाम आठ अंकों के बाद 'हरिश्चन्द्रिका' कर दिया गया। सन् 1880 में इसे 'मोहनचन्द्रिका' में मिला दिया गया। चार वर्षों तक यह संयुक्त रूप से निकलती रही।

भारतेन्दु ने 1 जनवरी 1874 को स्त्री शिक्षा के प्रसार के उद्देश्य से 'बाल-बोधिनी' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इसके प्रवेशांक के आवरण पृष्ठ पर यह निवेदन छपा था- 'मेरी प्यारी बहनो ! मैं एक तुम्हारी नई बहन बाल-बोधिनी, आज तुम लोगों से मिलने आयी हूँ, और यही इच्छा है कि

1. हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास : डॉ. आर. सी. त्रिपाठी, पृ. 52

तुम लोगों से सब महीनों में एक बार मिलूं। देखो, मैं तुम लोगों से अवस्था में कितनी छोटी हूँ, क्योंकि तुम सब बड़ी हो चुकी हो और मैं अभी जन्मी हूँ, और इस नाते से तुम सबकी छोटी बहन हूँ, पर मैं तुम लोगों में हिल-मिलकर सहेलियों और संगिनी की भाँति रहना चाहती हूँ। इससे मैं तुम लोगों से हाथ जोड़कर और आँचल खोलकर यही मांगती हूँ कि मैं जो कभी भली-बुरी, कड़ी-नरम, कहनी-अनकहनी कहूँ, उसे मुझे अपनी समझकर क्षमा करना, क्योंकि मैं जो कुछ कहूँगी तुम्हारे हित की कहूँगी।'[1]

इसी वर्ष मेरठ से 'नागरी प्रकाश' तथा प्रयाग से 'नाटक प्रकाश' नामक मासिक पत्रिकाओं का प्रकाशन भी आरम्भ हुआ। इन्हीं दिनों अलीगढ़ वकील तोताराम वर्मा साप्ताहिक 'भारत बन्धु' निकाल रहे थे।

यह वह समय था जब स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना कर भारतीय समाज को नई दिशा देना आरम्भ किया था। फलत: पं. शिखरावन ने प्रयाग से 'प्रयाग धर्मप्रकाश' नामक मासिक पत्र प्रकाशित किया। इसकी भाषा संस्कृत और हिन्दी होती थी। प्रयाग से ही 'धर्मप्रकाश' मासिक पत्रिका और 'सुदर्शन समाचार' का प्रकाशन हुआ। बनारस से धीरज शास्त्री के सम्पादन में 'आनन्द लहरी' का प्रकाशन हो रहा था। इन्हीं दिनों शाहजहाँपुर से 'आर्य भूषण' और 'आर्य दर्पण' नामक मासिक और साप्ताहिक पत्र भी छप रहे थे।[1]

1 सितम्बर 1877 को पं. बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी प्रवर्धनी सभा के माध्यम से 'हिन्दी प्रदीप' नामक पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया, यह 16 पृष्ठों की थी।

1. हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास : डॉ. आर. सी. त्रिपाठी, पृ. 52

इस पत्रिका का जन्म हिन्दी पत्रकारिता में एक क्रांतिकारी घटना थी। अपनी निर्भीकता के कारण भट्टजी को इस पत्रिका के प्रकाशन में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अप्रैल 1908 के अंक में इस पत्रिका में पं. मालव शुक्ल की 'बम क्या है' शीर्षक से एक कविता छपी जिससे कुपित होकर सरकार ने इसके प्रकाशन पर रोक लगा दी।[1]

सन् 1876 में लार्ड लिटन भारत के वायसराय बनकर आये। 1857 का स्वतंत्रता संग्राम यद्यपि कुचला जा चुका था तथापि इन दिनों भारतीय भाषाओं में प्रकाशित हो रहे पत्र जन जागरण के अपने दायित्व का भलीभाँति निर्वहन कर रहे थे। इससे चिन्तित लार्ड लिटन ने 14 मार्च 1878 को वर्नाकूलर प्रेस एक्ट की घोषणा की। इस कानून के अन्तर्गत सरकार को यह अधिकार मिल गया था कि वह देशी भाषाओं के सम्पादक, प्रकाशक या मुद्रक को यह आदेश दे सकती थी कि वह सरकार से यह इकरारनामा करें कि वे अपने पत्र में ऐसी कोई भी बात प्रकाशित नहीं करेंगे जो जनता के मन में सरकार के प्रति घृणा या द्रोह भाव का सृजन कर सकती हो। इस कानून के जरिये भाषाई पत्रकारिता का गला घोंटने का षड्यंत्र किया गया। इसी वर्ष सबसे पहला जातीय समाचार पत्र 'कायस्थ समाचार' प्रयाग से प्रकाशित हुआ।हिन्दी में जाति विशेष के नाम से यह पहला पत्र था। वर्नाकूलर प्रेस एक्ट का देशव्यापी विरोध हुआ किन्तु कोई नतीजा हासिल नहीं हो सका।

सन् 1883 तक हिन्दी पत्रकारिता अपने यौवनकाल में प्रवेश कर चुकी थी।

1. हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास : डॉ. आर. सी. त्रिपाठी, पृ. 52

इस बीच लखनऊ से 'नवीन वाचक', प्रयाग से 'भारत दीपिका' व 'आरोग्य दर्पण' तथा मिर्जापुर से 'आनन्द कादम्बिनी' का प्रकाशन हुआ। कई अन्य साप्ताहिक और मासिक पत्र भी प्रकाश में आये जिनमें 'प्रयाग समाचार' का स्थान मुख्य था। कई अन्य पत्र निकले और बन्द हुए।

सन् 1885 में काशी से रामकृष्ण वर्मा के सम्पादकत्व में 'भारत जीवन' नामक पत्र निकला जो शीघ्र ही सर्वाधिक प्रसार संख्या वाला हिन्दी पत्र बन गया। सन् 1885 में राजा रामपाल सिंह अपना 'हिन्दोस्थान' नामक पत्र लन्दन से कालाकांकर ले आये। यहाँ से यह दैनिक समाचार पत्र के रूप में हिन्दी और अंग्रेजी में अलग-अलग प्रकाशित होने लगा। इसी वर्ष कानपुर के बाबू सीताराम ने 'भारतोदय' नामक दैनिक पत्र निकालने का प्रयास किया। कानपुर से ही गुरुबख्श सिंह ने 'भारत चन्द्रोदय', मुरादाबाद से बनवारीलाल मिश्र ने 'गुजराती पत्रिका', आगरा से ज्वाला प्रसाद ने 'सत्य प्रकाश' तथा मेरठ से गंगा सहाय और कल्याणराय ने 'आर्य समाज' निकाला।

इस समय तक पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के प्रति लोगों का रुझान बढ़ने लगा था। विभिन्न शहरों से अनेक मासिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्र निकालने की बाढ़ सी आ गई। इनमें से अधिकतर पत्र ऐसे थे जो प्रकाशन प्रारम्भ होने के कुछ समय बाद ही बन्द हो गए। ऐसे पत्रों में विशुद्ध व्यापारिक दृष्टिकोण से निकाले जाने वाले पत्रों की संख्या ही अधिक थी। इन सभी पत्रों का यहाँ विस्तार से उल्लेख करने की न तो आवश्यकता है और न ही सीमित स्थान में यह संभव है। इससे शोध प्रबन्ध को अनावश्यक विस्तार ही मिलेगा।

अलबत्ता संक्षिप्त में उनका विवरण इस प्रकार है- सन् 1888 में खत्रियों ने दो पत्र मथुरा से व एक आगरा से निकाला। श्रीमती महादेवी ने प्रयाग से 'भारत भगिनी' नामक पत्रिका निकाली।

1889 व 1890 में कायस्थों, ब्राह्मणों व जाटों के जाति सूचक कई पत्रों का प्रकाशन हुआ। इन्हीं दिनों बांकीपुर से 'मोतीचूर', मुरादाबाद से 'सत्य', आगरा से 'सत्यधर्म मित्र', बरेली से 'सत्य धर्म पत्र', मेरठ से 'साहित्य सरोज' व 'हिन्दी पंच' व अलीगढ़ से 'परोपकारी' आदि पत्र प्रकाशित हुए।

1891 में मिर्जापुर से 'खिचड़ी समाचार', लखनऊ से 'विद्याप्रकाश' व 'बाल हितकर', बनारस से 'नौका जगहित' व 'रामजन मित्र', प्रयाग से 'राम पताका', मथुरा से 'शिक्षक' व 'जगतमित्र' आदि का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ।

1892 में मथुरा से 'ब्रजवासी', अयोध्या से 'साकेत जीवन', बरेली से 'सत्ययुग' आदि पत्रों का छपना शुरू हुआ।

1893 में मिर्जापुर से 'नागरी नीरद', मुरादाबाद से 'भारत प्रताप' व कानपुर से 'सुधासागर' निकले। 1894 में मुरादाबाद से 'नीति प्रकाशन', 'वंशीमाला', बनारस से 'भारत भूषण', मथुरा से 'विश्वकर्मा' आदि पत्र निकले।

सन् 1895 में कई नये साप्ताहिक पत्रों के साथ-साथ कुछ मासिक पत्रों का प्रकाशन भी प्रारम्भ हुआ। इनमें 'महेश्वरी', 'रत्नाकर', 'नाटक पत्र', 'न्याय पत्र' व 'सुधानिधि' आदि उल्लेखनीय हैं।

सन् 1896 में लखीमपुर से सूरजप्रसाद ने 'आर्य भास्कर' निकाला। 'काशी

वैभव' काशी से हिन्दी-मराठी में छपती थी। अलीगढ़ के ज्ञानोदय प्रेस से ज्वालाप्रसाद ने साप्ताहिक 'प्रताप' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। 1897 में कानपुर से 'रसिकमित्र' तथा 'रसिकवाटिका' साप्ताहिक पत्र निकले। लखनऊ से कृष्ण बलदेव ने 'विद्याविनोद' साप्ताहिक प्रकाशित किया। कुछ और पत्रों का प्रकाशन भी शुरू हुआ।

1898 में मुरादाबाद से साप्ताहिक 'आर्यमित्र' निकला जो बाद में आगरा से छपने लगा। इसी वर्ष कई जातीय पत्र भी प्रकाशित हुए। 1899 में कानपुर से 'प्रेमपत्रिका' व मेरठ से ' देशहितकारी' का प्रकाशन हुआ। 1900 में 'सर्व हितकारी' अलमोड़ा से देवीप्रसाद के सम्पादकत्व में छपा। इसी वर्ष इटावा से 'निर्भय ब्रह्मानन्द', काशी से 'सुदर्शन' व मेरठ से 'भारतोद्धार' का प्रकाशन हुआ। हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में यह वर्ष 'सरस्वती' के प्रकाशन के लिए याद किया जाता है। अपनी सुन्दर छपाई, सफाई, कागज, चित्रों और स्तरीय सामग्री के कारण यह पत्रिका शीघ्र ही बेहद लोकप्रिय हो गई।इण्डियन प्रेस प्रयाग से इसे चिन्तामणि घोष ने काशी-नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से प्रकाशित किया था।इसके सम्पादक मण्डल में प्रारम्भ में बाबू राधाकृष्ण दास, बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री, लाला जगन्नाथ रत्नाकर, किशोरीलाल गोस्वामी और बाबू श्याम सुन्दर दास जैसे दिग्गज शामिल थे।[1] बाद में इसके सम्पादन का दायित्व आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संभाला। इस पत्रिका में छपना किसी भी साहित्यकार के लिए गौरव की बात थी। इसके माध्यम से द्विवेदी जी ने

1. परतंत्र भारत में पत्रकारिता की स्थिति : सुरेश मजुमदार (धर्मयुग , सितंबर 1972)

हिन्दी जगत को अनेक मूर्धन्य साहित्यकार दिये। निस्संकोच यह कहा जा सकता है कि हिन्दी पत्रकारिता में यह एक क्रांति का उदय था।

यह सदी के समापन का भी वर्ष था। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्नीसवी सदी में हिन्दी पत्रकारिता का विकास बड़ी विषम और चुनौतीपूर्ण परिस्थितियों में हुआ। समय-समय पर पत्रिकाएँ बड़े उत्साह के साथ जन्म लेतीं किन्तु परिस्थितियाँ उनके मार्ग में दीवार की तरह बाधा बनकर खड़ी हो जातीं। ब्रिटिश सरकार आये दिन नये-नये कानून बनाकर इसे पंगु बना रही थी। इन सारी रुकावटों के बावजूद हिन्दी पत्रकारिता धीमी गति से ही सही किन्तु निरन्तर उत्थान की ओर अग्रसर थी।

बीसवीं सदी के पहले साल अर्थात 1901 में कुल 12 हिन्दी पत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इनमें दो साप्ताहिक, एक पाक्षिक और 9 मासिक थे। प्रख्यात लेखक चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' के सम्पादन में जयपुर से मासिक 'समालोचक' की शुरूआत हुई। सन् 1902 में आठ, 1903 में चौदह, 1904 में नौ, 1905 में आठ तथा 1906 में कुल 19 हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ हुआ लेकिल इनमें से एक भी पत्र ऐसा नहीं था जो स्तरीय हो या जिसने हिन्दी पत्रकारिता के विकास में संख्यात्मक वृद्धि के अलावा कोई स्मरणीय योगदान दिया हो।[1]

सन् 1907 में कुछ महत्वपूर्ण पत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इनमें महामना मदन मोहन मालवीय के सम्पादकत्व में निकले 'अभ्युदय' ने हिन्दी पत्रकारिता को नई दिशा दी। मालवीय ने इस पत्र में प्रकाशित अपने लेखों के माध्यम से

1. हिन्दी पत्रकारिता : डॉ. राम विद्रोही, पृ. 49

जन-चेतना का जो बिगुल बजाया उसके दूरगामी परिणाम निकले ।[1] उनके कार्यकाल में ही पहले राजर्षि बाबू पुरुषोत्तम दास टण्डन और फिर सत्यानन्द जोशी को इसका सम्पादक बनाया गया । दोनों ही विद्वानों ने बड़ी कुशलता और योग्यता के साथ पत्र का सम्पादन किया ।[2] सन् 1911 में कृष्णकान्त मालवीय अभ्युदय के सम्पादक हुए । उन्हीं के कार्यकाल में 1915 में यह पत्र पहले अर्द्धसाप्ताहिक और फिर दैनिक रूप से निकलने लगा । इसका प्रकाशन 1918 तक जारी रहा ।

सन् 1908 में कलकत्ता से चार मासिक पत्रों भारती, कमला, प्रभाकर और ज्ञानोदय का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ । बम्बई से सेठ गजानन मोदी के सम्पादन में 'भारत' नामक साप्ताहिक पत्र शुरू हुआ । दस अन्य पत्र भी इसी वर्ष प्रारम्भ हुए । सन् 1909 में प्रकाशित होने वाले कुल पत्रों की संख्या 26 थी । इनमें 2 त्रैमासिक, 2 पाक्षिक, 6 साप्ताहिक और 16 मासिक थे । 'कर्मयोगी' नाम का पाक्षिक पत्र प्रयाग से बाबू सुन्दरलाल ने निकाला जो कुछ दिनों बाद साप्ताहिक हो गया ।[3] इस वर्ष शुरू होने वाले मासिक पत्रों के नाम हैं- चाँद, उषा, सारस्वत, देहाती, ज्योतिप्रभा, हिन्दी बाल सुधा, किसानीमाला, धर्मास्यि दीपिका, जान्हवी, कवि, साधु समाचार, गृहलक्ष्मी, स्त्रीधर्म और इन्दु । इन्दु मासिक काशी से अम्बिका प्रसाद गुप्त ने प्रकाशित किया था, बाद में यह इन्दौर

1. हिन्दी पत्रकारिता : डॉ. राम विद्रोही, पृ. 53
2. हिन्दी पत्रकारिता के सिद्धान्त : डॉ. आर. सी. त्रिपाठी, पृ. 59
3. हिन्दी पत्रकारिता - इतिहास एवं स्वरूप : शिवकुमार दुबे

से प्रकाशित होने लगा।

सन् 1910 में प्रकाशित होने वाले कुल सोलह पत्रों में कानपुर का साप्ताहिक 'प्रताप' सर्वाधिक प्रसिद्ध हुआ। इसके संपादक बाबू गणेशशंकर विद्यार्थी थे। वस्तुत: प्रताप का कार्यालय क्रांतिकारियों के मिलने और मंत्रणा करने का स्थान था। प्रतापी सम्पादक के कारण इस पत्र का यश जल्दी ही दूर-दूर तक फैल गया। इसके अलावा प्रयाग से 'सुधानिधि', काशी से 'नवजीवन', मथुरा से 'प्रजाबन्धु' और आगरा से 'सुधांशु' का प्रकाशन भी इसी वर्ष शुरू हुआ।

सन् 1911 में प्रकाशित होने वाले पत्रों की कुल संख्या थी 23। इनमें 19 मासिक, दो पाक्षिक और दो साप्ताहिक थे। इनमें दो मासिक पत्रिकाएँ ही अच्छे ढंग से निकलीं। एक तो पं. लक्ष्मीधर वाजपेयी के सम्पादकत्व में निकली 'हिन्दी चित्रमयजगत्' और दूसरी पं. कृष्णकान्त मालवीय के सम्पादन में निकली 'मर्यादा'। बाद में डॉ. सम्पूर्णानन्द मर्यादा के सम्पादक बने।

सन् 1912 में वैसे तो 13 पत्रों का प्रकाशन हुआ, किन्तु दैनिक 'भारतमित्र' का प्रकाशन ही इस वर्ष की उल्लेखनीय घटना थी।

सन् 1913 में अनेक साप्ताहिक और मासिक पत्रों के अलावा तीन दैनिक पत्रों का प्रकाशन भी आरम्भ हुआ। ये थे कानपुर से 'कानपुर गजेट' तथा पटना से 'हिन्दी विहारी' और 'श्री वेंकटेश्वर समाचार'। कानपुर से आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के सम्पादन में 'स्त्रीशिक्षा' का प्रकाशन भी इस वर्ष की महत्वपूर्ण घटना थी। पटना से काशीप्रसाद जायसवाल के सम्पादन में साप्ताहिक 'पाटिलपुत्र' शुरू हुआ जो लगातार आठ वर्ष तक छपने के बाद

1921 में बन्द हुआ। हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से पं. रामनरेश त्रिपाठी के सम्पादन में प्रारम्भ हुई 'सम्मेलन पत्रिका' अभी तक प्रकाशित हो रही है। इसी तरह इस वर्ष काशी से पं. लक्ष्मीनारायण गर्दे के सम्पादन में निकली मासिक पत्रिका 'नवनीत' का प्रकाशन भी निरन्तर जारी है। अन्य उल्लेखनीय पत्रिकाओं में खण्डवा से माखनलाल चतुर्वेदी और कालूराम गंगराडे के सम्पादन में निकली 'प्रभा', मिर्जापुर से महावीर प्रसाद मालवीय के सम्पादन में निकली 'प्रियंवदा' तथा काशी से बाबू गंगाप्रसाद गुप्त द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य' प्रमुख हैं। 'प्रभा' का प्रकाशन 1919 से कानपुर से होने लगा तब इसके सम्पादक गणेश शंकर विद्यार्थी और श्रीकृष्णदत्त पालीवाल थे।

सन् 1914 में 46 पत्रों का प्रकाशन हुआ। इनमें तीन दैनिक, एक अर्द्धसाप्ताहिक, पाँच साप्ताहिक और 37 मासिक थे। दैनिक पत्रों में कलकत्ता से 'कलकत्ता समाचार', पटना से 'बिहारी' और उन्नाव से 'सर्वहितैषी' का प्रकाशन हुआ। 1915 से पत्रों के प्रकाशन की संख्या में अपेक्षाकृत कमी आई, यह क्रम चार साल तक चला। इस वर्ष कुल 29 पत्रों का प्रकाशन हुआ जिनमें एक साप्ताहिक, एक अर्द्धसाप्ताहिक, दो दैनिक, दो पाक्षिक, दो मासिक और एक त्रैमासिक पत्रिका थी। सन् 1916 की प्रमुख घटना कलकत्ता से दैनिक 'विश्वमित्र' का प्रकाशन था। इस पत्र ने भी बड़ी संख्या में पाठकों को आकर्षित किया। इस वर्ष कुल तेरह पत्र निकले।[1]

सन् 1917 में लखनऊ से साप्ताहिक रूप से प्रकाशित होने वाले 'आनन्द' को

1. हिन्दी पत्रकारिता के सिद्धान्त : डॉ. आर. सी. त्रिपाठी, पृ. 64

दैनिक कर दिया गया। इसके सम्पादक शिवनाथ शर्मा थे। इस वर्ष दो साप्ताहिक और आठ मासिक पत्र भी शुरू हुए। बच्चों की अपने समय की सर्वाधिक लोकप्रिय पत्रिका 'बालसखा' का प्रकाशन भी इसी वर्ष प्रारम्भ हुआ। इंडियन प्रेस प्रयाग से छपने वाली इस पत्रिका के सम्पादक देवीदत्त शुक्ल थे जो बाद में 'सरस्वती' के सम्पादक हुए। तब लल्ली प्रसाद पाण्डेय को बालसखा का सम्पादक बनाया गया।

सन् 1918 में हैरम्ब मिश्र के सम्पादन में दैनिक 'सूर्य' का प्रकाशन हुआ। कानपुर से 'कानपुर समाचार' तथा जालौन से 'उत्साह' भी इसी वर्ष प्रकाशित हुआ। उत्साह के सम्पादक रामेश्वर प्रसाद शर्मा थे।

सन् 1919 में 44 पत्रों का प्रकाशन हुआ। इनमें दो दैनिक 'विजय' तथा 'वीर भारत' थे। महात्मा गांधी के सम्पादकत्व में 'सत्याग्रही' का प्रकाशन भी इसी वर्ष से आरम्भ हुआ। इस साप्ताहिक पत्र की बड़ी धाक थी।

सन् 1920 से वास्तविक अर्थों में हिन्दी में दैनिक पत्रकारिता के नये युग की शुरूआत हुई। इस वर्ष आठ दैनिक पत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। काशी से निकलने वाला 'आज' उत्कृष्ट पत्रकारिता का प्रतीक बना। आज यह समाचार पत्र कई स्थानों से छप रहा है। कई विशिष्ट हस्तियों ने भी पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया। इसके प्रथम सम्पादक विष्णु पराड़कर हिन्दी सम्पादकों के आदिपुरुष माने जाते हैं।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने 'देश' और माखनलाल चतुर्वेदी ने साप्ताहिक 'कर्मवीर' निकाला। अब कर्मवीर नाम से एक मासिक पत्रिका का प्रकाशन

भोपाल से विजय दत्त श्रीधर कर रहे हैं।[1]

सन् 1921 में कुल 23 मासिक और 11 साप्ताहिक पत्र निकले। नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से विष्णु नारायण भार्गव ने साहित्यिक उत्थान को प्रश्रय देने वाली प्रसिद्ध कथा पत्रिका 'माधुरी' का प्रकाशन आरम्भ किया। उन्होंने इस पत्रिका में अनेक विशिष्ट साहित्यकारों की कृतियों को प्रकाशित कर हिन्दी भाषा और साहित्य को समृद्ध करने में अविस्मरणरीय योगदान दिया। उन दिनों यह प्रेस साहित्यकारों का तीर्थस्थल हुआ करती थी। शिवपूजन सहाय, वृन्दावन लाल वर्मा, निराला, इलाचन्द जोशी, प्रेमचन्द जैसे कई इतिहास पुरुषों के प्रसिद्ध ग्रंथ यहाँ से प्रकाशित हुए। 'माधुरी' का आकार-प्रकार, साज-सज्जा आदि 'सरस्वती' की ही भाँति थी किन्तु भाषा और वर्तनी की दृष्टि से यह कई बार सरस्वती से दो कदम आगे ही प्रतीत होती थी। इसके सम्पादकों में प्रेमचन्द, दुलारेलाल भार्गव, रूपनारायण पांडेय, शिवपूजन सहाय, कृष्णबिहारी जैसे विद्वानों के नाम शामिल हैं। कुछ ही वर्षों में यह हिन्दी की सबसे लोकप्रि पत्रिका बन गई। इसकी एक विशेषता यह भी थी कि यह राजनीति से कोसों दूर विशुद्ध साहित्यिक पत्रिका थी।

सन् 1922 में रामकृष्ण मिशन के तत्वावधान में कलकत्ता से 'समन्वय' मासिक का प्रकाशन हुआ।[2] इसके सम्पादक स्वामी माधवानन्द थे। 1923 में यूँ तो बहुत से पत्र निकले, किन्तु साहित्यिक व्यंग्य प्रधान साप्ताहिक 'मतवाला'

1. हिन्दी पत्रकारिता : डॉ. राम विद्रोही, पृ. 56

2. हिन्दी पत्रकारिता के सिद्धान्त : डॉ. आर. सी. त्रिपाठी, पृ. 67

का प्रकाशन कालजयी घटना था।

अगले कुछ वर्षों में पत्र-पत्रिकाओं की बाढ़ का यह सिलसिला तो जारी रहा किन्तु जिन पत्रों ने इतिहास में अपना स्थान सुरक्षित किया उनमें हनुमान प्रसाद पोद्दार के सम्पादन में बम्बई से 'कल्याण', सत्यदेव विद्यालंकार के सम्पादन में कलकत्ता से 'नवयुग', रामवृक्ष बेनीपुरी के सम्पादन में पटना से 'युवक', गिरिजादत्त शुक्ल के सम्पादन में प्रयाग से 'वनलता'(1929), बनारसी दास चतुर्वेदी के सम्पादन में कलकत्ता से 'विशाल भारत'(1928), दुलारेलाल भार्गव के सम्पादन में लखनऊ से 'सुधा'(1927) तथा महान कथाकार प्रेमचन्द के सम्पादन में बनारस से 'हंस'(1930) का प्रकाशन स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य घटनाएँ हैं।[1]

सन् 1932 में 'जागरण' नामक पाक्षिक पत्र का प्रकाशन हुआ। इसके सम्पादक बाबू शिवपूजन सहाय तथा मुंशी प्रेमचन्द थे। इसी वर्ष विख्यात कवि पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला के सम्पादन में 'रंगीला' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन हुआ जो अपने तेवरों के कारण जल्दी ही विख्यात हो गया।

सन् 1936 में प्रसिद्ध 'विश्वभारती' नामक पत्रिका का प्रकाशन शांति निकेतन कलकत्ता से हुआ। यह एक शोधपरक साहित्यिक पत्रिका थी। सन् 1938 में सुमित्रानन्दन पंत के सम्पादकत्व में निकली मासिक पत्रिका 'रूपाभ' भी काफी चर्चित हुई। इस दशक की एक अन्य विख्यात पत्रिका थी 'प्रतीक' जिसका सम्पादन अज्ञेय जैसे स्वनामधन्य साहित्यकार ने किया।

1. हिन्दी पत्रकारिता : डॉ. राम विद्रोही, पृ. 87

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी पत्रकारिता

सन् 1947 में भारत को स्वतंत्रता मिलते ही हिन्दी पत्रकारिता की दिशा और दशा में आमूलचूल परिवर्तन परिलक्षित होने लगे। बड़ी तीव्र गति से पत्र-पत्रिकाओं का विकास और प्रसार तो हुआ ही, उनके रंग-रूप, सामग्री और कलेवर में भी क्रांतिकारी बदलाव आया।

यहाँ इस तथ्य का उल्लेख भी मैं आवश्यक समझता हूँ कि स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रारम्भिक कुछ वर्षों तक अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं ने हिन्दी पत्रों पर अपना दबदबा बनाने का प्रयास किया। नौकरशाहों और राजनेताओं द्वारा भी हिन्दी के बजाय अंग्रेजी पत्रकारों को प्राथमिकता दिये जाने से कुछ हिन्दी पत्रकार तो हीन भावना के शिकार होते भी देखे गए, किन्तु जल्दी ही यह वास्तविकता सबकी समझ में आ गई कि यदि देश की नब्ज पर हाथ रखना है तो हिन्दी पत्रकारिता का ही आश्रय लेना होगा।

स्वातंत्र्योत्तर पत्रकारिता में एक आधारभूत परिवर्तन यह भी आया कि समाचार पत्रों और साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं या विषय विशेष पर आधारित पत्रिकाओं (यथा खेल पत्रिका, फिल्मी पत्रिका, महिला पत्रिका आदि) की भूमिका स्पष्ट रूप से अलग-अलग हो गई। समाचारपत्रों की भूमिका अपने पाठकों तक नवीनतम सूचनाएँ और उनका यथार्थपरक विश्लेषण पहुँचाने की थी, जबकि पत्रिकाएँ विश्लेषण और परदे के पीछे के सच को उद्‌घाटित कने लगीं। इस प्रकार दैनिक पत्रों का मुख्य कार्य देश और दुनिया की राजनीतिक गतिविधियों, दैनिक जीवन की उथल-पुथल और सामाजिक घटनाक्रम की

जानकारी पाठकों तक यथाशीघ्र पहुँचाना है। यहाँ हम दैनिक समाचारपत्रों और साप्ताहिक या मासिक पत्रिकाओं की अलग-अलग चर्चा करेंगे।

दैनिक समाचार पत्र

जो दैनिक समाचार पत्र आज़ादी के पहले ही प्रकाशित होना प्रारम्भ हो गये थे उनमें से भी अधिकांश ने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ही अपने कलेवर को व्यापक और विस्तृत किया। एक ओर जहाँ कई बड़े औद्योगिक घराने इस व्यवसाय में पैर पसार रहे थे, वहीं कुछ विशुद्ध श्रमजीवी पत्रकार भी पत्रकारिता को मिशन के तौर पर जीवित रखने का भगीरथी प्रयास कर रहे थे। पत्रकारिता का परिदृश्य बहुत ही तेजी से बदला है। अब समाचार पत्र का प्रकाशन भी बहुत बड़ा उद्योग बन गया है। प्रत्येक समाचार पत्र कई -कई संस्करण निकाल रहा है। पूंजी विहीन या अल्पपूंजी निवेश की क्षमता वाले व्यक्ति तो अब अखबार निकालने की बात सोच भी नहीं सकते।[1] यहाँ कुछ प्रमुख दैनिक पत्रों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है :-

हिन्दुस्तान

राष्ट्रीय हिन्दी दैनिक हिन्दुस्तान सन् 1936 में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन के अवसर पर प्रकाशित हुआ। सत्यदेव विद्यालंकार इसके प्रथम सम्पादक थे। उनके बाद सन् 1946 से 1963 तक मुकुट बिहारी वर्मा ने इसका सम्पादन किया। उनके बाद कुछ दिनों तक हरिकृष्ण त्रिवेदी कार्यकारी सम्पादक रहे। बाद में रतनलाल जोशी के सम्पादन में यह अखबार निकला। सन् 1976 में

1. प्रांकुर : प्रवेशांक के सम्पादकीय भाग से (फरवरी 1999)

जोशी के अवकाश ग्रहण करने पर वरिष्ठ कांग्रेसी नेता चन्दूलाल चन्द्राकर को इसका सम्पादक नियुक्त किया गया। बाद के वर्षों में विनोद मिश्र, हरिनारायण निगम, विनोद मेहता आदि ने सम्पादन का दायित्व संभाला। वर्तमान में बिरला समूह के इस समाचार पत्र के आधा दर्जन से अधिक संस्करण निकल रहे हैं। प्रत्येक संस्करण के अलग-अलग सम्पादक हैं।

हिन्दुस्तान टाइम्स लिमिटेड के स्वामित्व में प्रकाशित इस समाचार पत्र की प्रबन्ध निदेशक शोभना भरथिया हैं। सभी संस्करणों में प्रतिदिन सामान्यत: 14 से 16 तक पृष्ठ होते हैं। प्रतिदिन चार से आठ तक रंगीन पृष्ठ होते हैं। सामान्यत: इसका मूल्य 2.50 रुपये है, किन्तु जिन दिनों में रविवारीय या अन्य पत्रिकाएँ होती हैं तब इसका मूल्य 3 रुपये होता है। कुछ संस्करणों में पाठकों रिझाने के लिए आमंत्रण मूल्य मात्र एक रुपया ही रखा गया है, लेकिन यह मात्र कुछ दिनों के लिए है।

नवभारत टाइम्स

स्वतंत्रता प्राप्ति से मात्र चार महीने पूर्व बैनेट कोलमैन एण्ड कम्पनी ने 4 अप्रैल 1947 को दिल्ली से नवभारत टाइम्स का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इसके प्रथम सम्पादक हरिशंकर द्विवेदी थे। बाद में सत्यदेव विद्यालंकार,मातादीन भगोरिया,अक्षय कुमार जैन, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', राजेन्द्र माथुर, विद्या निवास मिश्र, सुरेन्द्र प्रताप सिंह जैसे दिग्गजों ने इस समाचार पत्र के सम्पादन का दायित्व संभाला। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के कई वर्षों तक हिन्दी पत्रकारिता के राष्ट्रीय क्षितिज पर हिन्दुस्तान और नवभारत टाइम्स का

ही वर्चस्व रहा। शुरूआत में जहाँ हिन्दुस्तान आगे था, वहीं बाद के वर्षों में नवभारत टाइम्स काफी आगे निकल गया।

बीसवीं सदी के आखिरी दशक में क्षेत्रीय अखबारों का प्रभुत्व बढ़ा तो इन दोनों ही समाचार पत्रों की प्रसार संख्या में गिरावट आने लगी। लखनऊ और जयपुर संस्करण बुरी तरह विफल हो जाने के बावजूद वर्तमान में नवभारत टाइम्स के भी कई संस्करण निकल रहे हैं।

पंजाब केसरी

हिन्दी समाचार पत्रों में पंजाब केसरी को एक विशिष्ट स्थान और सम्मान इसलिए भी प्राप्त है क्योंकि इसके दो सम्पादक (संस्थापक लाला जगत नारायण व उनके पुत्र रमेश चन्द्र) आतंकवाद का विरोध करते हुए बलिदान हो गए, इसके बावजूद इस पत्र ने घुटने नहीं टेके।

आपातकाल के दौरान इसे केन्द्र सरकार के दमन का भी सामना करना पड़ा, किन्तु इसके सम्पादक तनिक भी विचलित हुए बिना अपनी विचारधारा पर अडिग रहे। लाला जगतनारायण ने सन् 1965 में 'पंजाब केसरी' का प्रकाशन प्रारम्भ किया था। दिल्ली और जालन्धर से एक साथ प्रकाशित होने वाले इस अखबार की विशेषता यह है कि इसका मुखपृष्ठ समाचारों पर आधारित न होकर फीचर पृष्ठ होता है। प्रत्येक दिन अलग-अलग विषयों (खेल, फिल्म, आध्यात्म आदि) के लिए तय है। बाद में इसकी देखा-देखी कई अन्य अखबारों ने भी प्रतिदिन एक फीचर पृष्ठ देना आरम्भ किया किन्तु इसका मुकाबला कोई नहीं कर पाया।

वीर अर्जुन

इस दैनिक समाचार पत्र का प्रकाशन सन् 1954 में नई दिल्ली से आरम्भ हुआ। यह अपने तीखे और आक्रामक अग्रलेखों के कारण बेहद चर्चित रहा। प्रारम्भ में कृष्णजी की लौह-लेखनी इसमें आग उगलती थी तो बाद में सम्पादक के. नरेन्द्र के सम्पादकीय अपनी ओजपूर्ण शैली के कारण खूब लोकप्रिय हुए। इस अखबार का अपना विशिष्ट पाठक वर्ग था। लगभग 25 वर्षों तक तो यह पत्र धूमकेतु की तरह छाया रहा, परन्तु व्यावसायिकता की दौड़ में इसके पैर उखड़ गये। बीच-बीच में कुछ अंतराल के साथ इसका प्रकाशन अभी भी जारी है।

जनसत्ता

सन् 1983 में इण्डियन एक्सप्रेस समूह के मालिक रामनाथ गोयनका ने हिन्दी में भी अखबार निकालने का निर्णय लिया। गोयनकाजी अपने तीखे तेवरों के लिए सदैव चर्चित रहे। हिन्दी पत्रकारिता में भी उन्होंने यही तेवर प्रदर्शित करने की ठानी तो 'जनसत्ता' का प्रादुर्भाव हुआ। धोती-कुर्ता और बन्डी पहनने वाले ठेठ मालवी मिज़ाज़ के वरिष्ठ पत्रकार प्रभाष जोशी इसके प्रथम सम्पादक नियुक्त हुए। उन्होंने युवा और जुझारू पत्रकारों की एक टीम इकठ्ठी की। तेजतर्रार शैली, दैनिक बोलचाल में प्रयोग की जाने वाली आम भाषा और खोजपूर्ण पत्रकारिता के कारण कुछ ही दिनों में चारों ओर जनसत्ता का डंका बजने लगा। इसमें प्रकाशित होने वाले काक के कार्टूनों ने अपने चहेतों का एक अलग वर्ग तैयार किया।

गोयनका जी के निधन के बाद यह पत्र अपने तेवर बरकरार न रख सका

और जितनी तेजी से यह ऊपर चढ़ा था उतनी ही तेजी से नीचे आ गया। वर्तमान में इसके सम्पादक ओम थानवी हैं। छपने को तो यह अब भी निरन्तर छप रहा है पर अब पहले जैसी बात नहीं रही। यह वास्तव में बड़े खेद की बात है कि इतने अच्छे समाचारपत्र के अच्छे दिन बहुत ज्यादा समय तक कायम नहीं रह सके। वर्तमान में यह नई दिल्ली के अलावा मुंबई व चण्डीगढ़ से भी प्रकाशित हो रहा है।

राष्ट्रीय सहारा

पिछली सदी के आखिरी दशक में एक दौर ऐसा भी आया जब सभी प्रमुख निजी वित्तीय कंपनियों को एकाएक ऐसा लगने लगा कि अन्य कामों के साथ अखबार निकालना भी एक आवश्यक कार्य है। इसी सोच के तहत राष्ट्रीय सहारा, कुबेर टाइम्स, जेपीजी टाइम्स जैसे समाचार पत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। सहारा इंडिया समूह के एक अंग सहारा इंडिया मास कम्युनिकेशन द्वारा 15 अगस्त 1991 को नई दिल्ली से 'राष्ट्रीय सहारा' का प्रकाशन किया गया। सुब्रत राय इसके प्रबंध निदेशक व जयव्रत राय प्रबंध सम्पादक हैं। 16 फरवरी 1992 को यह लखनऊ से भी प्रकाशित होने लगा। वर्तमान में इसके लगभग आधा दर्जन संस्करण निकल रहे हैं।

दैनिक पत्रकारिता में तो यह कोई विशिष्ट उपलब्धि अर्जित नहीं कर सका किन्तु किसी विशेष विषय पर केन्द्रित रहने वाला इसका साप्ताहिक परिशिष्ट 'हस्तक्षेप' उत्कृष्ट और श्रमसाध्य पत्रकारिता का श्रेष्ठ उदाहरण है। हस्तक्षेप का प्रत्येक अंक संग्रहणीय होता है।

अमर उजाला

वर्तमान में तेजी से बढ़ने वाले दैनिक पत्रों में अमर उजाला का भी महत्वपूर्ण स्थान है। वर्तमान में एक दर्जन से अधिक स्थानों से प्रकाशित होने वाले इस अखबार का प्रकाशन सन् 1948 में आगरा से डोरीलाल अग्रवाल और मुरारीलाल माहेश्वरी ने प्रारम्भ किया था।

वर्तमान में इसके प्रधान सम्पादक अनिल कुमार अग्रवाल हैं। आगरा के अलावा लखनऊ, झाँसी, बुलन्दशहर, अलीगढ़, मुथुरा, बरेली, चण्डीगढ़ आदि स्थानों से इसके संस्करण प्रकाशित हो रहे हैं। औसतन 16 पृष्ठों के इस समाचार पत्र में प्रतिदिन आठ रंगीन पृष्ठ होते हैं।

दैनिक जागरण

सन् 1942 में पूर्णचन्द्र गुप्त ने झाँसी से दैनिक जागरण का प्रकाशन प्रारम्भ किया था।जल्दी ही इसका प्रधान कार्यालय कानपुर स्थानांतरित हो गया। यहाँ नरेन्द्र मोहन गुप्त ने इसकी व्यवस्था संभाली। सन् 2002 में नरेन्द्र मोहन के दिवंगत होने के बाद उनके बेटे अब प्रकाशन की देखरेख कर रहे हैं। कानपुर के अलावा नई दिल्ली, गोरखपुर, लखनऊ,इलाहाबाद, देहरादून, मुरादाबाद, हिसार, भोपाल, रीवा आदि 18 स्थानों से भी इसके संस्करण निकल रहे हैं।[1] सभी संस्करणों सम्पादकीय दायित्व का निर्वहन अलग-अलग व्यक्ति कर रहे हैं।

पिछले दो दशकों में इस अखबार ने बहुत ही तीव्रगति से प्रगति के अनेक

1. मीडिया और समाज (राजीव मोहन गुप्त का आलेख): सम्पादक - पुष्पेन्द्र पाल सिंह, पृ. 118

सोपान तय किये हैं। अनेक स्थानों पर तो यह अग्रणी समाचार पत्र है। इसकी कुल पाठक संख्या एक करोड़ से अधिक है।

नई दुनिया

हिन्दी पत्रकारों का गुरुकुल माने जाने वाले समाचार पत्र 'नई दुनिया' की शुरूआत 5 जून 1947 को एक छोटे से सांध्य दैनिक के रूप में हुई थी। इसका जन्म कृष्णद्वय (कृष्णकान्त मुदगल तथा कृष्णकान्त व्यास) के प्रयत्नों से हुआ। छह माह बाद ही इसकी जिम्मेदारी नई दुनिया के पितृपुरुष लाभचन्द छजलानी के पास आ गई। 1962 से यह स्वयं के छापेखाने में छपने लगा। शीघ्र ही यह समाचार पत्र तकनीकी कौशल और सम्पादकीय परिपक्वता में हिन्दी का शीर्ष अखबार बन गया।

सन् 1967 में पहली बार नई दुनिया ही ऑफसेट रोटरी मशीन पर मुद्रित हुआ। सन् 1980 में फोटो कंपोजिंग सिस्टम लगाया गया तथा 1987 में यह लेजर कॉम सिस्टम पर आ गया। श्रेष्ठ छपाई के लिए नई दुनिया को कई राष्ट्रीय पुरस्कार मिल चुके हैं।[1] कुछ समय पहले तक इसे पत्रकारों की पाठशाला माना जाता था। राजेन्द्र माथुर, प्रभाष जोशी, वेद प्रताप वैदिक, शरद जोशी, श्याम व्यास जैसे शीर्षस्थ पत्रकार इसी पाठशाला की देन हैं। राहुल बारपुते के सम्पादन काल में इस पत्र ने सबसे स्वर्णिम दिन देखे। बाद में नरेन्द्र तिवारी इसके सम्पादक बने, वे स्वामित्व में भी हिस्सेदार थे। बाद में आंतरिक विभाजन के फलस्वरूप नरेन्द्र तिवारी के पुत्र राजेन्द्र तिवारी ने भोपाल से

1. मीडिया और समाज (अभय छजलानी का आलेख): सम्पादक - पुष्पेन्द्र पाल सिंह, पृ. 96

'दैनिक नई दुनिया' का प्रकाशन प्रारम्भ किया, इंदौर का स्वामित्व लाभचन्द के पुत्र अभय छजलानी के पास रहा। छजलानी ने पिछले दिनों भोपाल से 'राज्य की नई दुनिया' नामक एक नया दैनिक प्रारम्भ किया है। बहु संस्करणीय समाचार पत्रों के युग में 'नई दुनिया' का प्रकाशन अभी भी केवल इंदौर से हो रहा है।

नवभारत

रामगोपाल माहेश्वरी ने मात्र 23 वर्ष की उम्र में सन् 1934 में विदर्भ की राजधानी नागपुर से अर्द्ध साप्ताहिक के रूप में नवभारत का प्रकाशन आरम्भ किया था। सन् 1938 से इसे दैनिक के रूप में प्रकाशित किया जाने लगा। मायाराम सुरजन इसके प्रथम सम्पादक थे जिन्होंने बाद में 'देशबन्धु' नामक समाचार पत्र का प्रकाशन किया।

वर्तमान में मुंबई, नागपुर, भोपाल, इंदौर, रायुपर, ग्वालियर, सतना, जबलपुर आदि कई शहरों से इसके संस्करण निकल रहे हैं। मध्यप्रदेश में प्रकाशित होने वाले संस्करणों के प्रधान सम्पादक प्रफुल्ल माहेश्वरी हैं जो कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में राज्यसभा के सांसद भी हैं। समाचार पत्र का प्रबंधन इनके पुत्र सुमीत माहेश्वरी देख रहे हैं।

स्वतंत्र भारत

15 अगस्त 1947 को लखनऊ से अशोकजी के सम्पादकत्व में दैनिक 'स्वतंत्र भारत' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। सन् 1953 में जब वे भारत सरकार की सेवा में चले गए तो योगेन्द्र पति त्रिपाठी इसके सम्पादक बने। भारत सरकार से

सेवानिवृत्त होने पर सन् 1972 में अशोकजी ने पुन: इसके सम्पादन का दायित्व संभाल लिया। यह अखबार पायोनियर प्रेस लखनऊ से मुद्रित एवं प्रकाशित होता है। जनवरी 1979 में डॉ. के.पी. अग्रवाल इसके प्रधान सम्पादक बने। इसी वर्ष शिवसिंह सरोज को सम्पादक नियुक्त किया गया। वर्तमान में इसका प्रसार दिनोंदिन कम होता जा रहा है।

आज

हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास 'आज' की चर्चा के बिना पूरा नहीं हो सकता। 5 सितम्बर 1920 को शिवप्रसाद मुक्त ने कलकत्ता से इसका प्रकाशन प्रारम्भ किया था। सम्पादकों के पितामह बाबूराव विष्णु पराड़कर इसके सम्पादक थे। बाद में उत्तर प्रदेश की राजनीति को वर्षों तक अपने इशारे पर चलाने वाले पं. कमलापति त्रिपाठी ने भी इसके सम्पादक का दायित्व संभाला। स्वाधीनता आन्दोलन में सक्रिय योगदान देते हुए आज ने अंग्रेजी शासन की जमकर आलोचना की। यही कारण था कि पराड़कर पर राजद्रोह का मुकदमा चला और आज से उनकी जमानतें मांगी गयीं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कई वर्षों तक आज उत्तर प्रदेश का अग्रणी समाचार पत्र रहा। यद्यपि अभी भी इसके कई संस्करण निकल रहे हैं परन्तु व्यावसायिकता के युग में वह दौड़ से बाहर खड़ा नज़र आ रहा है।

दैनिक भास्कर

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अपनी प्रसार संख्या में बेतहाशा वृद्धि करने में दैनिक भास्कर सबसे आगे रहा। द्वारका प्रसाद अग्रवाल ने सन् 1958 में भोपाल

से इसका प्रकाशन आरम्भ किया था। वर्तमान में मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश आदि प्रदेशों से इसके 19 संस्करण निकल रहे हैं। इसकी प्रतिदिन 18 लाख से अधिक प्रतियाँ छप रही हैं और वर्तमान में यह सबसे अधिक बिक्री वाला हिन्दी समाचार पत्र है।

द्वारका प्रसाद अग्रवाल के बाद उनके पुत्र रमेश चन्द्र अग्रवाल और पुत्री हेमलता अग्रवाल में स्वामित्व के विवाद को लेकर लम्बी कानूनी लड़ाई चली। वर्तमान में रमेश चन्द्र अग्रवाल भास्कर समूह के प्रधान सम्पादक हैं और उनके पुत्र सुधीर अग्रवाल प्रबन्ध निदेशक। इस समाचार पत्र की सफलता ने बाकी सभी अखबारों को बहुत पीछे छोड़ दिया है।[1]

इस तरह यह वे प्रमुख समाचार पत्र हैं जिन्होंने स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी पत्रकारिता की दिशा और दशा तय करने में अगणी भूमिका निभाई। उपरोक्त समाचार पत्रों का विवरण प्रस्तुत करते हुए मैंने उनके नियमित स्तम्भों का अलग से उल्लेख इसलिए नहीं किया क्योंकि इन सभी अखबारों में लगभग एक जैसे ही स्तम्भ प्रकाशित हो रहे हैं। मसलन लगभग प्रत्येक अखबार में भविष्य फल, मौसम, वर्ग पहेली, रेलवे आरक्षण, सिनेमा, नगर में आज, पॉकेट कार्टून, कार्टून स्ट्रिप, व्यंग्य, बाजार भाव, टीवी कार्यक्रम आदि स्तम्भ ऐसे हैं जो नियमित रूप रोज प्रकाशित होते हैं। सभी प्रमुख अखबारों में लगभग आठ पृष्ठ रंगीन होते हैं। प्राय: प्रतिदिन फीचर का भी कोई न कोई पेज होता ही है। इन समाचार पत्रों की औसत कीमत ढाई से तीन रुपये के बीच है।

1. मीडिया और समाज (रमेश अग्रवाल का लेख): सम्पादक - पुष्पेन्द्र पाल सिंह, पृ. 119

इन समाचार पत्रों के अलावा दैनिक जनयुग, युगधर्म, नवजीवन, स्वदेश, देशबन्धु, लोकमत, आचरण, चौथा संसार आदि ने भी स्वातंत्र्योत्तर पत्रकारिता में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

उपरोक्त दैनिक पत्रों के अतिरिक्त पत्रिकाओं की भूमिका भी उल्लेखनीय रही है। स्वातंत्र्योत्तर काल में प्रकाशित होने वाली प्रमुख हिन्दी पत्रिकाओं में धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, दिनमान, रविवार, इतवारी पत्रिका,ब्लिट्ज, करन्ट, संडे ऑब्जर्वर, चौथी दुनिया, दिनमान टाइम्स, इंडिया टुडे, आउटलुक (सभी साप्ताहिक), माया, सारिका, सरिता, मुक्ता, भू-भारती (सभी पाक्षिक), कल्याण, नवनीत, कादम्बिनी, हंस, नीहारिका (सभी मासिक) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

इनमें से दिनमान और रविवार जहाँ विशुद्ध रूप से समाचार पत्रिकाएँ थीं वहीं ब्लिट्ज और करन्ट वस्तुतः टेबुलाइड अखबार का ही एक रूप थे। धर्मयुग और साप्ताहिक हिन्दुस्तान ही दो ऐसी पत्रिकाएँ थीं जिन्हें किसी भी मापदण्ड से निस्संकोच सम्पूर्ण पत्रिका कहा जा सकता है। यह हिन्दी का बहुत बड़ा दुर्भाग्य है कि ये दोनों पत्रिकाएँ अकाल मृत्यु की शिकार हो गईं। मित्र प्रकाशन इलाहाबाद की पत्रिकाओं का बन्द होना भी ऐसा ही दुःखद हादसा है। उल्लेखनीय है कि मित्र प्रकाशन की सभी पत्रिकाओं माया, मनोरमा, सत्यकथा, मनोहर कहानियाँ आदि ने बिक्री के जो कीर्तिमान स्थापित किये थे वे अभी भी नहीं टूटे हैं।[1]

1. लुप्त हो रही हैं हिन्दी पत्रिकाएँ : राजाराम तिवारी (दैनिक नई दुनिया- 26 जनवरी 2000)

ये सभी पत्रिकाएँ आर्थिक कारणों से नहीं बल्कि मालिकों के बीच चले सम्पत्ति विवाद के कारण बन्द हुईं। किसी भी भाषा के लिए इससे बुरी घटना और कोई नहीं हो सकती।

यहाँ वर्ग विशेष के लिए निकलने वाली पत्रिकाओं यथा महिलाओं की पत्रिकाओं वामा, गृहशोभा, मेरी सहेली, सच्ची घटनाओं पर आधारित पत्रिकाओं सच्चे किस्से, सत्यकथा, नूतन कहानियाँ आदि, फिल्मी पत्रिकाओं माधुरी, मायापुरी, स्टारडस्ट आदि का उल्लेख इसलिए नहीं किया क्योंकि इन पत्रिकाओं से पत्रकारिता की स्थिति पर कोई खास अन्तर नहीं पड़ा।

अधुनातन हिन्दी पत्रकारिता

आधुनिक हिन्दी पत्रकारिता के बारे में बहुत कुछ विचार तो स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी पत्रकारिता के अन्तर्गत हो ही चुका है, अत: इस शीर्षक के तहत मैंने विशेष रूप से बीसवीं सदी के आखिरी दशक और इक्कीसवीं सदी की हिन्दी पत्रकारिता पर ध्यान केन्द्रित किया है।

यह समय हिन्दी पत्रकारिता के लिए अनेक ऐसे परिवर्तनों का समय रहा है जिनकी पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। कई लब्धप्रतिष्ठित और बहु प्रसारित हिन्दी पत्रकाओं का कल्पनातीत अवसान सुबुद्ध पाठकों के लिए बहुत बड़ा आघात था। विडम्बना यह थी कि इस पतन को चुपचाप देखते रहना उनकी लाचारी थी, क्योंकि यह सब प्रकाशन समूहों के आंतरिक अर्थशास्त्र के कारण हो रहा था जिसमें उनकी (पाठक की) प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी तरह की भूमिका सम्भव ही नहीं थी।

हिन्दी के राष्ट्रीय समाचार पत्र निरन्तर संकुचित हो रहे थे और क्षेत्रीय समाचार पत्रों का प्रसार और प्रभाव अप्रत्याशित तीव्रता से बढ़ रहा था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि वर्ष 2001 के प्रसार सम्बन्धी आँकड़ो के आधार पर दैनिक भास्कर किसी भी भाषा में सबसे ज्यादा बिक्री वाला समाचार पत्र है। इसके अलावा सर्वाधिक बिक्री वाले प्रथम दस अखबारों में दैनिक जागरण, नवभारत और अमर उजाला जैसे क्षेत्रीय हिन्दी अखबार तो हैं किन्तु इस सूची में राष्ट्रीय हिन्दी दैनिक कहलाने वाले किसी भी अखबार का नाम नहीं है। जबकि कुछ वर्ष पहले तक नवभारत टाइम्स इस दौड़ में हिन्दी अखबारों में सबसे आगे रहा करता था।

समाचारपत्रों की संस्करण प्रथा भी पाठकों के साथ बहुत बड़ा छल कर रही है। इस व्यवस्था ने समाचारपत्रों के प्रसार में तो जबरदस्त इज़ाफा किया किन्तु उनके सरोकारों को बहुत ही छोटे क्षेत्र तक सीमित कर दिया। उदाहरण के तौर पर पहले यदि नवभारत टाइम्स के दिल्ली संस्करण में कोई समाचार छपता था तो वह उस संस्करण के सभी पाठकों तक पहुँचता जरूर था, अलबत्ता इतना अवश्य होता था कि नगर संस्करण के पाठकों की अपेक्षा डाक संस्करण के पाठकों तक वह समाचार एक दिन विलम्ब से पहुँचता था। परन्तु अब तो राष्ट्रीय, अन्तरराष्ट्रीय और अति महत्वपूर्ण प्रादेशिक समाचारों को छोड़कर शेष समाचार केवल स्थानीय लोगों को ही पढ़ने के लिए उपलब्ध हो पाते हैं।

इसका मुख्य कारण यह है कि अब सभी प्रमुख समाचारपत्र अपनी प्रसार संख्या बढ़ाने के लिए जिलेवार संस्करण निकालने लगे हैं। इस स्थिति को यूँ

समझा जा सकता है कि झाँसी या कानपुर से प्रकाशित होने वाले किसी दैनिक में यदि उरई में होने वाली किसी घटना का समाचार छपना है तो वह उस समाचार पत्र के केवल उरई संस्करण में ही छपेगा। झाँसी, कानपुर या हमीरपुर संस्करण के पाठक उस समाचार को पढ़ने से वंचित रह जायेंगे। जबकि उरई में उस समाचार को पढ़ने वाले अधिकांश पाठक यह मानकर चलते हैं कि वह समाचार पत्र जहाँ-जहाँ पहुँचेगा वह समाचार भी वहाँ-वहाँ पहुँचेगा। ऐसी स्थिति में सूचना की व्यापकता (जो किसी जिम्मेदार अखबार का प्रथम कर्तव्य है) का मूल उद्देश्य समाप्त होकर सूचना का विक्रय मूल्य बढ़ाने का उद्देश्य ही प्रधान हो उठता है। प्रिन्ट मीडिया के विकसित और आधुनिकतम संचार तंत्र की यह सबसे दुख:द विसंगति है।

नवभारत के ग्वालियर संस्करण के सम्पादकीय प्रभारी राकेश पाठक का मानना है कि ऐसा करना समाचारपत्रों की विवशता है। यदि स्थानीय समाचारों को विस्तार के साथ प्रकाशित न किया जाये तो जो विशाल पाठक वर्ग इन अखबारों का ग्राहक बनता है वह विमुख होने लगेगा। समाचार पत्र का प्रसार क्षेत्र बहुत व्यापक होता है। अधिकांश स्थानीय समाचार ऐसे होते हैं जिनमें अन्य स्थानों के पाठकों की तनिक भी रुचि नहीं होती। इसीलिए ऐसे समाचारों को संस्करण विशेष तक सीमित रखने में कुछ भी अनुचित नहीं है।

टीवी चैनलों के साथ पंजे से पंजा लड़ाते वर्तमान समाचार पत्र अब समाचारों से ज्यादा फीचर, विचारों और विश्लेषणों को तरज़ीह देने लगे हैं। पहले यह काम पत्रिकाएँ किया करती थीं। प्रत्येक प्रमुख समाचार पत्र बच्चों,

महिलाओं, युवाओं, फिल्म, खेल, कैरियर आदि पर आधारित रंगीन परिशिष्ट प्रकाशित कर रहे हैं। इस स्थिति ने नयी पत्रिकाओं को हतोत्साहित करने में अहम् भूमिका निभाई है। समाचार पत्र सम्पादकों का तर्क यह है कि टीवी चैनलों की व्यापकता के कारण सूचनाएँ तो लोगों तक तुरन्त पहुँच जाती हैं, ऐसे में समाचार पत्र से वे यह अपेक्षा करने लगते हैं कि वह सूचना का विश्लेषण और परदे के पीछे की कहानी उन तक पहुँचाये। इसी प्रकार बाजार में टिक रहने के लिए पाठकों को ज्यादा से ज्यादा रंगीन पत्रिकाएँ उपलब्ध कराना भी उनके लिए अपरिहार्य हो गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अधुनातन पत्रकारिता की प्राथमिकताओं और आधारभूत सिद्धान्तों में आमूलचूल परिवर्तन आया है। पत्रकारिता में मिशन का भाव लगभग तिरोहित हो चला है, अब तो बाजार में टिके रहने और प्रतिद्वन्दियों से आगे निकलने की बाजीगरी ही समाचार पत्र प्रकाशकों का प्रमुख ध्येय बन गया है। इस आपाधापी में सम्पादक की सत्ता दबे पाँव विलीन होती जा रही है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अधुनातन हिन्दी पत्रकारिता विकास के उच्चतम तकनीकी सोपानों पर तो पहुँच चुकी है, किन्तु इसके लिए उसे भारी कीमत भी चुकानी पड़ी है।

ooo

षष्ठ अध्याय

धर्मवीर भारती की हिन्दी पत्रकारिता

षष्ठ अध्याय

धर्मवीर भारती की हिन्दी पत्रकारिता

धर्मवीर भारती ने हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता को जिन ऊँचाइयों तक पहुँचाया उसके लिए इतिहास सदैव उनका ऋणी रहेगा। वैसे तो भारती ने जो इतिहास रचा वह धर्मयुग के सम्पादक के रूप में ही रचा, परन्तु उनकी पत्रकारिता का समग्र मूल्यांकन करने के लिए हमें इलाहाबाद से उनका आकलन प्रारम्भ करना होगा। भारती की पत्रकारिता को हम तीन चरणों में बाँट सकते हैं-

(अ) अध्ययनकालीन पत्रकारिता

(ब) अध्यापनकालीन पत्रकारिता और

(स) पूणकालीन पत्रकारिता।

प्रारम्भिक काल या अध्ययनकालीन पत्रकारिता

भारती ने बी.ए. की पढ़ाई का खर्च ट्यूशन करके निकाला था। एम.ए. की पढ़ाई के समय आपने पं. मदनमोहन मालवीय द्वारा स्थापित एवं उनके पौत्र पद्मकांत मालवीय द्वारा संपादित 'अभ्युदय' में अंशकालीन पत्रकार के रूप में कार्य किया। कहा जाता है कि भारती द्वारा लिखी गई दो

टिप्पणियों– 'लार्ड लिनलिथगो के बारे में' और 'गांधी जी की घड़ी के संबंध में' पर बहुत उत्तेजक और गरमागरम चर्चा हुई। भारती अभ्युदय में केवल दो वर्ष (सन् 1946-1947) ही रहे। पत्रकारिता का प्राथमिक प्रशिक्षण उन्हें यहीं से मिला।

संगम में सह सम्पादक :-

भारती ने संगम में सह संपादक के रूप में दो वर्ष (सन् 1948-1950) तक कार्य किया। उनके साथ ओंकार शरद भी सह संपादक थे, जो बाद में उसी लीडर प्रेस में भारत के संपादक भी रहे। संगम सचित्र साप्ताहिक पत्र था। उसका प्रकाशन 15 अगस्त 1947 से प्रारंभ हुआ और वह सन 1954 तक प्रकाशित होता रहा। एक अंक का मूल्य चार आने था। वार्षिक दर 12 रुपये थी। मुखपृष्ठ पर संपादक के रूप में इलाचन्द्र जोशी का नाम रहता था। सह संपादकों के नाम नहीं दिए जाते थे। हालांकि सह संपादक ही गेट अप, अनुवाद, प्रूफ संशोधन एवं संपादकीय लिखने आदि का सभी काम करते थे। संगम की इस अन्यायपूर्ण परम्परा को डॉ. भारती ने धर्मयुग में जाकर तोड़ा और संपादकीय विभाग के सभी सदस्यों के नाम प्रकाशित करने की नूतन प्रथा प्रारंभ की, जिसका अनुकरण अन्य पत्रिकाएं भी करने लगी हैं। [1]

संगम में जब तक भारतीजी ने काम किया तब तक प्रायः हर अंक में ही उनके लेख प्रकाशित होते थे। उन सबका उल्लेख न तो आवश्यक है और न ही संभव। यहाँ मैं संगम में प्रकाशित भारती के कुछ उन महत्वपूर्ण लेखों की

1. धर्मवीर भारती-व्यक्ति और साहित्यकार : डॉ. पुष्पा वास्कर, पृ. 127

चर्चा कर रहा हूँ जो काफी प्रशंसित और चर्चित हुए थे।

नये युग के मसीहा बापू

यह लेख संगम के 3 अक्टूबर 1948 के अंक में प्रकाशित हुआ है। इस लेख के पूर्व एक पूरे पृष्ठ पर महात्मा गांधी का छाया-चित्र दिया गया है, जिसके नीचे लिखा हुआ है- पुण्य जयंती के अवसर पर बापू को संगम की श्रद्धांजलि! संगम का यह अंक श्रद्धांजलि अंक है और सह संपादक के नाते भारती ने यह समसामयिक श्रद्धांजलिपरक लेख लिखा है। लेख का प्रारंभ गांधी के जीवन में घटित एक घटना से किया गया है। बात उस समय की है जब उन्होंने अपने लड़के का इलाज स्वयं करना शुरू किया था और डॉक्टरों की मरीज को अंडा देने की सलाह अस्वीकृत कर दी। बच्चे को 104 डिग्री तापमान था। गांधीजी उद्भ्रांत से बाहर घूमने लगे। इस घटना के प्रतीकार्थ की ओर संकेत करते हुए लेखक ने उसे युग की समस्या के प्रति गांधी की गहन चिंता से कुशलतापूर्वक संबंधित कर दिया है-

'असली समस्या तो यह थी कि महज उनका बच्चा नहीं, वरन धरती की सभी संतानें बीमार हैं। उनकी तरुणाई में, उनकी कल्पना में, उनकी राजनीति में उनकी संस्कृति में, उनके साहित्य में, उनके धर्म में, उनकी कला में, उनके दर्शन में सभी में एक घुन लग गया है, किसी ऐसे भयंकर रोग के कीटाणु लग गए हैं, जिन्होंने उन्हें अंदर से खोखला बना दिया है, जिससे वह केवल पाशविक प्रवृत्तियों के भयावने कंकाल मात्र रह गए हैं। उनका संतुलन बिगड़ चुका है, उनका समन्वय नष्ट हो चुका है, उनकी आंखें पीली और निस्तेज हैं

और उनकी सारी संस्कृति धीरे-धीरे दम तोड़ रही है !

यह सवाल केवल एक सुन्दर बच्चे का नहीं था। यह सवाल मानव जीवन के चिरन्तन सौन्दर्य का था। जो अमंगलकारी छायाएं मानवता की आत्मा को अपने काले पंखों से ढक रही हैं। उनसे छुटकारा पाने के लिए क्या कोई भी भौतिक समाधान काफी हो सकता है।'

यह भाषा-शैली अखबारी पत्रकारिता की नहीं है। इसे तो अंधा-युग का कृति लेखक ही लिख सकता है। सामान्य घटना को प्रतीकात्मकता की सूक्ष्म डोर से युगीन समस्या एवं बापू की मसीहाई से जोड़ देना किसी भारती जैसे लेखक के लिए ही संभव है।

यूरोप की आधुनिक चित्रकला

रविवार, 10 अक्टूबर 1948 के अंक में प्रकाशित यह लेख पर्याप्त अध्ययन के बाद लिखा गया है। यह सचित्र लेख है और इसमें आठ चित्र दिए गए हैं। इस लेख में भी गद्य की भारती शैली विद्यमान है। रोथे स्टीन के 'एक शरदकालीन दृश्य!' शीर्षक चित्र की प्रेरणा का उल्लेख करते हुए भारती लिखते हैं - 'अब आप कल्पना कीजिए। एक शरद काल की दोपहर, हल्की शर्बती धूप की सुनहरी चादर ओढ़े सारी धरती शान्त पड़ी है। दूर-दूर तक फैले खेत निस्तब्ध हैं, किसान अपना काम छोड़कर आराम कर रहे हैं।'[1]

यूरोप की आधुनिक चित्रकला की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करने के बाद अंत में वे उसकी अस्पष्टता की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं- 'यह ठीक

1. संगम , 10 अक्टूबर 1948

है कि कहीं-कहीं पर यह कला, कलाकार की इतनी वैयक्तिक सम्पत्ति हो जाती है कि हम उसे नहीं समझ पाते। यह उचित नहीं, कला में सर्वभौमता तो होनी ही चाहिए, व्यक्तिगत मर्मस्पर्शिता तो होनी ही चाहिये , लेकिन हमें यह सदा ध्यान में रखना चाहिए कि जब किसी भी कला की किसी भी नई शैली का प्रादुर्भाव होता है तो प्रारंभ में अस्पष्टता रहनी स्वभाविक होती है। यह लेख इस चित्रकला को देखने के लिए आवश्यक दृष्टिकोण की ओर संकेत करता है। कला समीक्षक की जोरदार प्रतिभा के निर्देशन इस लेख में होते हैं।

आधुनिक मनोविकारग्रस्त चित्रकला

यह भी सचित्र लेख है। इसमें पांच चित्र दिए गए हैं। पाश्चात्य देशों के आधुनिक चित्रकारों की कला के रहस्य का उद्घाटन करते हुए भारती ने लिखा है- वह किसी वस्तु का यथावत चित्रण नहीं करता वरन उस वस्तु को देखकर, उसके चेतन या अर्द्धचेतन मन में कौन सी भावतरंगें उठती हैं ? वह क्या विचार करता है ? इन सब तत्वों की अभिव्यक्ति उसके चित्रण में प्रमुखता पा जाती है। इसके चित्रण का लक्ष्य वह वस्तु न रहकर उसका मन हो जाता है। इसी कारण एक साधारण व्यक्ति जब उन चित्रों को देखता है तो वह अक्सर हतप्रभ रह जाता है और नहीं समझ पाता है कि इसके वास्तविक अर्थ क्या हैं।

भारती ने लेख में दिए गए चित्रों की व्याख्या भी की है। पहले चित्र के सम्बन्ध में वह लिखते हैं - यह एक सिंह का चित्र है किन्तु ऐसा सिंह जो

शायद किसी जंगल में न मिले, सिवा उलझे विचारों के उन घने जंगलों में, जहां भूल से भी कोई रोशनी की किरण नहीं झांक पाती। यह सिंह वास्तव में उस कलाकार के व्यक्तित्व के उस भयानक अंश का प्रतीक है, वह पशुतापूर्ण, हिस्त्र अंश जो मानव के व्यक्तित्व में आदिम युग से चला आ रहा है और जिससे स्वयं कलाकार भयभीत सा मालूम होता है।[1]

लेख में मन:तत्व नामक एक ऊलजलूल चित्र भी दिया गया है। उसकी व्याख्या करते हुए भारती ने लिखा है कि चित्र का निर्माता मानसिक रूप से अशान्त और अव्यवस्थित था और अन्त में उसने आत्महत्या कर ली। संभवत: भारती का यह लेख किसी अंग्रेजी पुस्तक या लेख पर आधारित है।

पुर्तगाली कविता में भारत

पुर्तगाली कवियों को भारतीय संस्कृति से कैसे अपूर्व प्रेरणा मिली थी, इस तथ्य से परिचित कराने के लिए ही यह लेख लिखा गया है। पाठकों को यह पढ़कर हर्षमिश्रित आश्चर्य होगा कि पुर्तगाल का आधे से ज्यादा ललित साहित्य भारत पर लिखा गया है।

पुर्तगाली कवि कामो (जन्म 1524 ई.) ने भारत में रहकर 'लुसियादास' नामक महाकाव्य लिखा। पुर्तगाली सेना में भरती होकर सन 1553 ई. में वह भारत आया था। सन 1561 में उसका महाकाव्य प्रकाशित हुआ। अपनी मृत्यु के शताब्दियों बाद कामो पुर्तगालियों का सर्वश्रेष्ठ कवि माना गया। अपने महाकाव्य के सप्तम सर्ग में ब्राह्मणों का वर्णन करते हुए उसने लिखा है–

1. संगम , 17 अक्टूबर 1948

भारत में जो कुछ पवित्र है उन सबका मालिक ब्राह्मण है। ये लोग अपने को ब्रह्मा का वंशज बताते हैं और उनके भोजन के लिए छोटे से छोटे जीव की भी हत्या नहीं होती। एक अन्य गीत में भारतीय नारी के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए वह लिखता है- 'मैंने सुकुमार किसलयों की शैया पर सोया हुआ कोई गुलाब इतना सुन्दर नहीं देखा। ......उसके बालों के कालेपन के कारण पुर्तगाल के लोगों की रुचि सुनहले बालों से उठती जा रही है।'

जेरोनिमों कोतेरील नामक कवि ने 21 अध्यायों का महाकाव्य लिखा। यह कवि भारतीय समुद्र में पुर्तगाली बेड़े का अध्यक्ष था। बीसवीं शताब्दी में तो भारत ही इन कवियों की मातृभूमि हो गई। फर्नेन्डो लील, लेडी फ्लोरेशिया एवं मेरियानो ग्रेशियास ने स्वप्नों के देश भारत की बहुत प्रशंसा की है। कवि फ्लोरियातों बैटेली ने भारतीय विषयों पर अपने गीत लिखे हैं। लेख के अंत में भारती ने लिखा है-

'सच तो यह है कि जिस तरह भारत ने चार शती तक लगातार पुर्तगाल की संस्कृति का निर्माण किया है, उसे देखते यदि हम पुर्तगाल को भारत का साहित्यिक उपनिवेश कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। भारती की विषय प्रतिपादन की शैली तो प्रभावशाली है ही, विदेशी कविताओं का हिन्दी में अनुवाद करने की कला पर भी उनका असाधारण अधिकार है। इस प्रतिभा के दर्शन आगे चलकर देशांतर नामक पुस्तक में होते हैं, जो देश-विदेश की अनूदित कविताओं का संग्रह है।[1]

1. संगम , 31 अक्टूबर 1948

नरक की राजधानी में

यह सचित्र लेख अमरीका के सबसे बड़े नगर न्यूयार्क के बारे में है। लेखन-शैली की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि लेखक ने इस लेख को लिखे जाने तक न्यूयार्क देखा नहीं था लेकिन वर्णन इस प्रकार किया है, मानो आंखों देखी घटना है। वह देखिए बाल्ट्रोफ आस्टोरिया के जलपान गृह में बैठी हुई, मदिरा पान करती हुई अधेड़ औरतें। उनके पास से गुजरिए, महक से आपका दिमाग घूम जायेगा, सिल्क की सरसराहट आपकी सांसों को गुदगुदा देगी। और याद रखिए यह अधेड़ औरतें हैं, जवान लड़कियों की बात मैं नहीं कहता।' [1]

इस लेख के लिखते समय लेखक प्रगतिवादी दौर से गुजर रहा था, इसलिए रूस के प्रति उसका कोमल कोना है- आधी शती पहले न्यूयार्क के ये महाधर्मप्राण बनिए भारत की निन्दा करते थे, और आज रूस की अधार्मिकता की बुराई करते हैं। अमरीका के प्रति भारती के मन में तीव्र नफरत है। नीग्रो के प्रति गोरी चमड़ी वालों के व्यवहार के प्रति वे बहुत कटु होकर लिखते हैं- गोरे और काले चमड़े के आधार पर बनी हुई यह चर्मकारों की सभ्यता। इससे अच्छी तो ऊदबिलावों और जहरीले सांपों की सभ्यता होगी। आदमखोर जंगलियों की कौम इनसे बेहतर होगी। भौतिक सभ्यता के प्रति तीव्र आक्रोश प्रकट करते हुए भारती ने बाइबिल के हवाले से उसे बेबेल कहा है और बेबेल के समान ही उसके विनाश की भविष्यवाणी की है।

1. संगम , 14 नवम्बर 1948

कांग्रेस की कहानी

प्रस्तुत लेख कांग्रेस की स्थापना से लेकर स्वतंत्रता के प्रभात के आने तक का इतिहास है। यह विवरण जिस अद्‌भुत साहित्यिक शैली में प्रस्तुत किया है, वह डॉ. भारती की साहित्यिक प्रतिभा का परिचायक है। कांग्रेस के सम्बन्ध में लेखक के निम्नलिखित विचार किसी भी गद्य साहित्य के पारखी को मंत्रमुग्ध कर सकते हैं-

'कांग्रेस की कहानी, एक संस्था की कहानी नहीं है, एक दल की कहानी नहीं है, एक देश की कहानी नहीं, वह संसार के इतिहास के सबसे ज्यादा रक्त-रंजित लेकिन सबसे ज्यादा भाग्यशाली युग की कहानी है, वह संसार के इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण मगर सबसे ज्यादा रक्तहीन क्रान्ति की कहानी, वह मानवता के सबसे शानदार, सबसे महान और सबसे महत्वपूर्ण आन्दोलन की कहानी है।' [1]

नेहरू और गांधी के मिलन की घटना का भारती शैली में वर्णन दृष्टव्य है- 'फूल की पांखुरियों जैसे दुलार में पला हुआ, चन्द्रकिरन जैसा सुकोमल मगर आग की लपट की तरह तेजतर्रार जवाहर भी अपने व्यक्तित्व का सारा विद्रोह लेकर उन लपटों में कूद पड़ा। गांधी और जवाहर की भाषा अलग थी मगर लक्ष्य एक। गांधी वैष्णव सन्तों की पूजा वाणी में बोलते थे और जवाहर नये विद्रोही के अग्नि स्वर में, मगर दोनों का देवता एक-भारत।'

दक्षिण अफ्रीका में सफलतापूर्वक आन्दोलन चलाकर आए गांधी में

1. संगम , कांग्रेस विशेषांक 1948

लोगों को संभावनाएं दिखाई दीं। इस बात को भारती ने यों रखा है - 'स्वयं कांग्रेस के बड़े-बड़े कर्णधार यह समझते थे कि मोटी खादी में लिपटे हुए इस दुबले-पतले व्यक्तित्व में किसी ऐसी अनजान वंशी का स्वर गूंजता है, जो भारत की आत्मा को किसी बड़े महान लक्ष्य की ओर खींच रही है।'[1]

संगम के इन लेखों से यह स्पष्ट है कि यह कलम दैनिक समाचार पत्रों की नीरस पत्रकारिता के लिए नहीं बनी थी। यदि भारती ने अपनी कलम को नीरस पत्रकारिता के मोह से न बचाया होता तो वे नवलेखन के सशक्त हस्ताक्षर बनकर उसका नेतृत्व न कर पाते, जिसके आधार पर वे धर्मयुग के संपादक बने और अन्ततः इतिहास पुरुष बन गए।

मध्यकालीन या अध्यापनकालीन पत्रकारिता

सन् 1950 से सन 1960 के बीच के समय में डॉ. धर्मवीर भारती इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में प्राध्यापक के रूप में कार्य करते हुए 'नयी कविता' और 'निकष' से परामर्शदाता के रूप में सम्बद्ध रहे। इन दोनों पत्रिकाओं का लेखकों एवं कवियों की नई पीढ़ी को आगे लाने में महत्वपूर्ण योगदान है।

नयी कविता :- नयी कविता साहित्यकारों का सहकारी प्रयास था किन्तु इसके प्रकाशन की योजना के प्रमुख सूत्रधार डॉ. धर्मवीर भारती ही थे। इसका प्रकाशन सन 1954 से प्रारंभ हुआ और कुल आठ अंक निकले। संपादक के रूप में डॉ. जगदीश गुप्त अंत तक रहे। उन्हें क्रमशः डॉ. रामस्वरूप

1. संगम , कांग्रेस विशेषांक 1948

चतुर्वेदी, विजयदेवनारायण शाही, श्रीराम वर्मा एवं प्रमोद सिन्हा ने संपादन में सहयोग दिया। प्रकाशन भी क्रमशः राजकमल, किताब महल एवं लोकभारती प्रकाशन के तत्वावधान में हुआ। प्रकाशन-व्यय आदि के लिए साहित्यकारों से चन्दा लिया जाता था।[1]

इस सम्बन्ध में डॉ. जगदीश गुप्त का स्मरण दृष्टव्य है- उसके प्रकाशन के लिये जिनसे मैंने चन्दा उगाही की उनमें कई कवि पिछली पीढ़ी के भी थे, हमउम्र सहयोगी और साथी तो थे ही। पन्त जी ने प्रथम अंक के लिए विशेष टिप्पणी लिखी और चेक भी दिया। महादेवी जी ने पैसा तो दिया पर इस सुझाव के साथ कि इसका नाम नयी कविता न रखकर मात्र कविता रखा जाये। जाहिर है कि मैंने उनके पैसे का उपयोग किया और सुझाव, जिससे मैं सहमत नहीं था अपने पास रख लिया। धर्मवीर भारती नयी कविता के सूत्रधार ही नहीं थे, नयी कविता के माध्यम से वे नई पीढ़ी पर छा गये। डॉ. जगदीश गुप्त के शब्दों में- अंधायुग और कनुप्रिया के अंश पहली बार नयी कविता में प्रकाशित हुए तथा बहुसंख्यक कवियों पर देखते-देखते भारती का व्यक्तित्व छा गया।

नयी कविता के पहले ही अंक की जोरदार प्रतिक्रिया हुई और उसने सारे हिन्दी-जगत को जड़ से हिला दिया। 'नयी कविता' और 'निकष' दोनों ही 'साहित्य सहयोग' की ओर से प्रकाशित होते थे। नयी कविता में प्रारंभ में कुछ लेख रहते थे। बाद में परिचय के अन्तर्गत किसी एक कवि पर समीक्षात्मक

1. धर्मवीर भारती-व्यक्ति और साहित्यकार : डॉ. पुष्पा वास्कर, पृ. 325

लेख तथा उसकी कविताएं दी जाती थीं। इसके बाद व्याख्या के अन्तर्गत एक कवि स्वयं अपनी कविताओं की व्याख्या करता था। तदनन्तर संचयन के अन्तर्गत कवियों की रचनाएं संकलित रहती थीं। नयी कविता में भारती का योगदान उसी प्रकार का है जैसे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का 'कवि वचन सुधा' एवं 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में तथा जयशंकर प्रसाद का 'इन्दु' में रहा है।

परिचय के अन्तर्गत प्रस्तुत कवियों लक्ष्मीकान्त वर्मा, सर्वेश्वर, कुँवर नारायण, विपिन कुमार अग्रवाल को आगे चलकर बहुत अधिक मान्यता मिली। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने नयी कविता के प्रतिमान नामक भारी भरकम ग्रन्थ लिखकर इस काव्यान्दोलन के पीछे निहित विचारधारा को व्यवस्थित रूप प्रदान किया। नयी कविता के किंचित कविता के रूप में जो व्यंग्यपरक कविताएं प्रकाशित होती थीं, उन्हें ठीक ढंग से न समझकर या जानबूझकर नव काव्य विरोधियों ने उसके ऊलजलूल होने की घोषणा की। प्रगतिवादी कविता के स्थान पर नई कविता की जन-मानस में प्रतिष्ठित करने में नयी कविता ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। आज तो नए कवि एवं उनकी कृतियाँ उन्हीं आचार्यों के विभागों के पढ़ाई जा रही है, जिन्होंने उसकी प्रगति के रथ को अवरुद्ध करने में कोई कसर नहीं उठा रखी थी।

नई कविता का छूतहा प्रभाव अन्य कवियों पर भी पड़ा- पंत जी तक ने कला और बूढ़ा चांद जैसी रचना लिखकर नयी कविता से अपनी निकटता प्रमाणित की और उसके शैली शिल्प की विशेषताओं को अपनी परिवर्तनप्रिय प्रकृति के अनुसार अपनाने की चेष्टा की। दिनकर भी नील कुसुम में अगुआ

के स्थान पर नयी कविता के पिछलगुआ बनने को तैयार हो गये।

इस प्रकार नयी कविता के प्रकाशन, संपादन एवं सामग्री संकलन में भारती की मेधा का योगदान अस्वीकृत नहीं किया जा सकता।

निकष :- यह साहित्य सहयोग के तत्वावधान में साहित्य भवन लिमिटेड प्रयाग द्वारा प्रकाशित हिन्दी के श्रेष्ठ नवलेखन का अर्द्धवार्षिक संकलन था, जिसे धर्मवीर भारती तथा लक्ष्मीकांत वर्मा संपादित किया करते थे। निकष का पहला संकलन जुलाई 1955 में निकला। इसमें प्रकाशित कमल जोशी की 'फुलबसिया' नामक कहानी के बारे में यह कहा गया कि यह सतीनाथ भादुड़ी रचित सतीनाथ नामक बंगला कहानी का रूपान्तर है। इस सम्बन्ध में बिहार के किन्ही रमण, सह सम्पादक देश (जिसमें सतीनाथ प्रकाशित हुई थी) श्री सागरमय घोष एवं फुलबसिया के लेखक कमल जोशी के पत्र निकष-2 में प्रकाशित हुए हैं।

निकष के प्रथम अंक में ही प्रकाशित भारती की प्रसिद्ध यथार्थवादी कहानी 'गुलकी बन्नो' प्रकाशित हुई थी। निकष-2 में प्रकाशित डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल की कहानी 'सूने अँगन रस बरसे' स्वर्गीय फणीश्वर नाथ रेणु के उपन्यास 'परती परिकथा' का एक अंश, दुष्यन्त कुमार की कविता सूर्य का स्वागत आदि वे रचनाएँ हैं जो आगे चलकर अत्यधिक चर्चित हुईं। निकष के तृतीय एवं चतुर्थ अंक संयुक्तांक थे।[1] इसमें डॉ. लक्ष्मीनारायण का नाटक 'मादा कैक्टस' एवं कृष्णा सोबती का लघु उपन्यास 'डार से बिछुड़ी'

1. धर्मवीर भारती-व्यक्ति और साहित्यकार : डॉ. पुष्पा वास्कर, पृ. 327

संकलित हैं। निकष के इसी संयुक्तांक में (जनवरी 1957) प्रारंभ में ही स्वर्गीय सतीशचन्द्र चौबे की कविता 'रोशन हाथों की दस्तकें' संकलित हैं। इस कविता के देने के औचित्य के सम्बन्ध में एक संक्षिप्त टिप्पणी बॉक्स आइटम के रूप में दी गई है- इस संकलन का समारम्भ इस कविता से करके, निकष इस प्रतिभाशाली कवि का सम्मान करना है जो बाईस वर्ष की अल्पायु में इसी वर्ष, परिचित होने के पूर्व ही हमसे विदा हो गया।

निकष वालों को पूंजीवाद समर्थक व्यक्तिवादी कहने वालों को चाहिए कि वे इस युवा कवि की कविता की निम्नलिखित पंक्तियां देखें :-

सभी रोशनी देने वाले हाथ
मिलें, और कसकर बांध लें एक दूसरे को आज
ताकि यहीं से मारना शुरू करें दस्तकें
विश्व के अंधेरे कपाटों पर
वे मिले-जुले-कसकर बंधे रोशन हाथ।

ये पंक्तियां उसी निकष में छपी थी जिसे प्रगतिवादी, पूंजीवाद समर्थक कहकर क्रोध का निशाना बनाया करते थे। निकष-2 में इस संकलन के लक्ष्योद्देश्य को स्पष्ट करने वाले चार मुद्दे दिए गए हैं :-

निकष : एक नये तरह के संकलन की योजना है जो वर्ष में अभी दो बार प्रकाशित हुआ करेगा, यद्यपि पाठकों ने इसके प्रथम संकलन का जैसा स्वागत किया है उसे देखते हुए सम्भव है कि कुछ समय बाद हमें दो से भी अधिक संकलन निकालने पड़ें।

निकष : का प्रयास यह होगा कि हिन्दी में, गद्य और पद्य में, जितनी दिशाओं में जितनी प्रवृत्तियों के अन्तर्गत जो भी नया, महत्वपूर्ण, सशक्त, मौलिक साहित्य लिखा जा रहा है, उसे एक साथ संकलित कर पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करता रहे।

निकष : वर्गों, दलों, साहित्यिक शिविरों आदि की सीमाओं को कृत्रिम और झूठा मानता है, केवल आन्तरिक साहित्यिक मूल्य को ही निर्णय की कसौटी मानता है। उसका विश्वास है कि प्रत्येक दल या शिविर में, जहां कहीं, जो भी उच्च स्तर का, मानवीय मूल्य पर आधारित साहित्य लिखा जा रहा है, वह सब अभिनन्दनीय है और हिन्दी की गौरवशालिनी परम्परा को आगे बढ़ा रहा है। निकष ऐसे सभी साहित्य का स्वागत करता है।

निकष : का लेखक-परिवार यह मानता रहा है कि निम्न स्तर का दुरुचिपूर्ण या प्रचारात्मक साहित्य चाहे कुछ दिनों के लिए पाठक को आक्रांत कर ले, किन्तु अन्ततोगत्वा पाठक उच्च स्तर की कृतियों का इच्छुक रहा है, क्योंकि उसमें भी वे सारी संभावनाएं और सद्वृत्तियां निहित रहती हैं, जिन्हें केवल जगाना चाहता है। इसलिए निकष पाठक और लेखक के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित करने के लिए यत्नशील है।

उपर्युक्त घोषणापत्र का तीसरा अनुच्छेद यह स्पष्ट कर देता है कि निकष के संपादकों का दृष्टिकोण क्या था और वे साहित्य को दलीय राजनीति और गुटों के ऊपर मानते थे।

निकष 3-4 में उन सभी लेखकों के नाम प्रकाशित किए गए हैं, जिन्होंने

अपनी रचनाओं से उसे सहयोग दिया है। उस सूची के साथ निम्नलिखित पंक्तियां भी हैं-

निकष अपने लेखक परिवार की विशालता पर गर्व का अनुभव करता है और अपने अगले संकलनों में इसके अधिकाधिक विस्तार की कामना करता है। कृतियां भेजने का पता :- धर्मवीर भारती, 22 हैमिल्टन रोड, इलाहाबाद दिया गया है तो व्यवस्था संबंधी पत्र-व्यवहार का पता है- हरिमोहन दास टंडन कमलांग, रानीमंडी, इलाहाबाद।

निकष का प्रभाव इसी से स्पष्ट है कि उसकी प्रेरणा से दो अन्य साहित्य संकलन प्रकाशित हुए- (1) संकेत, संपादक-उपेन्द्रनाथ अश्क, सहायक कमलेश्वर, मार्कण्डेय (2) हंस, संपादक-बालकृष्ण राव, अमृतराय। निकष के सम्पादन से प्राप्त अनुभवों का उपयोग भारती ने धर्मयुग में जाकर किया और उसका कलेवर एवं स्तर एकदम बदल डाला।[1]

उत्तरकाल या धर्मयुग कालीन पत्रकारिता

भारतीजी ने सन् 1960 में बम्बई पहुँचकर धर्मयुग के सम्पादन का उत्तरदायित्व संभाला तो लगातार 27 वर्ष तक इस दायित्व का अत्यन्त सफलता के साथ निर्वहन करते रहे। धर्मयुग से सेवानिवृत्त होने के बाद भी आपके लिखने का क्रम निरन्तर जारी रहा। धर्मयुग में सेवानिवृत्ति के बाद आपका 'शब्दिता' शीर्षक से प्रकाशित होने वाला स्तम्भ ललित लेखन का उत्कृष्ट उदाहरण है।

1. धर्मवीर भारती-व्यक्ति और साहित्यकार : डॉ. पुष्पा वास्कर, पृ. 332

भारती की धर्मयुग कालीन पत्रकारिता का आकलन करते समय इस तथ्य को ध्यान में रखना पड़ेगा कि एक सम्पादक के रूप में उनका मुख्य दायित्व स्वयं के लेखन को परिमार्जित करने के बजाय समकालीन श्रेष्ठ पत्रकारों और लेखकों का श्रेष्ठतम लेखन अपने पाठकों तक पहुँचाना था। विख्यात साहित्यकार और नवभारत टाइम्स के सम्पादक रहे डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने इस सम्बन्ध में कहा भी है कि – 'हर कुशल पत्रकार श्रेष्ठ सम्पादक नहीं बन सकता किन्तु श्रेष्ठ सम्पादक के यह आवश्यक है कि वह श्रेष्ठ पत्रकार भी हो।' इस कसौटी पर भारतीजी की पत्रकारिता का विहंगावलोकन करें तो हम पत्रकारिता के एक अविस्मरणीय युग को अपने सामने जीवन्त होता देखते हैं।[1]

बीसवीं सदी के सातवें, आठवें और नवें दशक हिन्दी पत्रकारिता के स्वर्णिम उत्थान के दिन हैं। साहित्यिक पत्रकारिता ने इन दिनों में जो उपलब्धियाँ अर्जित कीं वे 'भूतो न भविष्यत्' हैं। केवल धर्मयुग ही नहीं अपितु साप्ताहिक हिन्दुस्तान, दिनमान, कादम्बिनी और नवनीत जैसी पत्रिकाएँ इन दिनों हिन्दी में जो कुछ भी श्रेष्ठतम लिखा जा रहा था वह सब अपने पाठकों तक पहुँचाने में जी–जान से जुटी थीं। इन सभी पत्रिकाओं का सम्पादन मूर्धन्य मनीषियों के जिम्मे था, किन्तु भारती इन सब पर भारी पड़ रहे थे।[2] उन्होंने बड़े ही सुनियोजित ढंग से धर्मयुग की रूपरेखा तैयार की और समकालीन युग को

1. मेरे दस सम्पादक : प्रकाश हिन्दुस्तानी , पृ. 32

2. तदैव , पृ. 34

घटित होते हुए इस तरह पाठकों तक पहुँचाया मानो सब कुछ उनकी आँखों के सामने ही घट रहा हो। किसी भी पत्रकार के लिए इससे बड़ी सफलता और कुछ हो ही नहीं सकती।

'धर्मयुग में प्रकाशित होने वाले रिपोर्ताज, संस्मरण, रेखाचित्र, साक्षात्कार, यात्रा वृतान्त, शिकारकथाएँ , विश्लेषण, समीक्षाएँ आदि कथ्य और तथ्य दोनों ही दृष्टियों से इतने प्रभावी, संतुलित और रोचक हुआ करते थे कि धर्मयुग अपने युग की धड़कन बन गया था। उसके पाठक यदि किसी अंक से वंचित रह जायें तो उन्हें ऐसा महसूस होता था मानों समय का कोई सिरा उनके हाथ से फिसल गया हो।'[1] यह भारती के सफल पत्रकार होने का श्रेष्ठतम साक्ष्य है।

धर्मयुग में वरिष्ठ उप सम्पादक रहे हरीश पाठक बताते हैं कि – 'भारतीजी शीर्षकों पर भी जबरदस्त मेहनत करते थे। धर्मयुग के जिन शीर्षकों पर पाठक मोहित हुआ करते थे, बहुत कम लोग जानते हैं कि उनके पीछे भारतीजी कितना समय और सिर खपाते थे। एक-एक शीर्षक पर अपने सहयोगियों के साथ तब तक मंत्रणा करते थे जब तक हर तरह से उपयुक्त कोई शीर्षक सामने नहीं आ जाता था। सामान्यत: कोई भी सम्पादक शीर्षक को इतनी गंभीरता से नहीं लेता, इसलिए कई बार तो हम लोगों को शीर्षकों के प्रति उनकी चिन्ता को देखकर झुंझलाहट भी होने लगती थी, पर आज अनुभव होता है धर्मयुग की सफलता में इन शीर्षकों का भी अविस्मरणीय योगदान रहा है। इसी प्रकार

1. **हिन्दी के श्रेष्ठ सम्पादक : पी.के.शुक्ला, पृ. 76**

प्रत्येक अंक के आवरण पृष्ठ को अंतिम रूप देते समय भी वे इतने दत्तचित होकर इस कार्य में जुटते थे मानो कोई साधक अपनी तपस्या के चरम क्षणों में पहुँचा हुआ हो।'

जून 1985 के एक अंक की तैयारी का स्मरण करते हुए हरीश पाठक बताते हैं – '7 जुलाई 1985 के अंक की आवरण कथा वन्य जीव संरक्षण पर आधारित थी। प्रख्यात वन्य प्रेमी रॉमेश बेदी ने भारतीय वन्य जीवन पर गहन अध्ययन और बड़े परिश्रम से एक पुस्तक लिखी थी, किन्तु हिन्दी में लिखी इस पुस्तक को जब कोई प्रकाशक नहीं मिला तो उन्होंने अंग्रेजी में अनुवादित कर 'इंडियन वाइल्ड लाइफ' शीर्षक से इसे प्रकाशित कराया। अंग्रेजी में न केवल इस पुस्तक को पर्याप्त प्रशंसा मिली बल्कि बिक्री भी खूब हुई। भारतीजी ने इन्हीं रॉमेश बेदी की आवरण कथा प्रकाशित की थी। आवरण पृष्ठ पर ऊपर के हिस्से में पोखर में पानी पीता हुआ शेर है और नीचे के हिस्से में हिरनी अपने शावक को दूध पिला रही है। इन चित्रों के साथ मोटे अक्षरों में सह शीर्षक था – 'रक्षा की करते सब टेर, भोले हिरन भयानक शेर' यह शीर्षक चुनने के लिए भारतीजी ने कम से कम एक घंटे तक विचार-विमर्श किया था। इससे समझा जा सका है कि पाठकों को धर्मयुग की जो छोटी-छोटी चीजें बेहद पसन्द आती थीं उनके पीछे कितना श्रम और समय लगता था। इस श्रम की सार्थकता को भारतीजी ने जितना समझा, उतना अन्य सम्पादक प्राय: नहीं समझ पाते। इसीलिए वे अपने समकालीनों से बहुत अलग और बहुत आगे थे।'

रॉमेश बेदी के उपरोक्त आलेख के साथ प्रकाशित यह सम्पादकीय टिप्पणी भी दृष्टव्य है – 'शेर हो या हिरण, घड़ियाल हो या तीतर; सभी प्रकार के वन्य जीवों के संरक्षण की चिन्ता करने वाले वन्य प्रेमी रामेश बेदी धर्मयुग के सुपरिचित लेखक हैं. हाल ही में रामेश बेदी द्वारा अंग्रेजी में लिखित पुस्तक 'इंडियन वाइल्ड लाइफ' अंतर्राष्ट्रीय रूप से चर्चित हुई है. हमारे बहुत कम पाठकों को ज्ञात होगा कि अंग्रेजी में प्रकाशित इस पुस्तक के सभी लेख बेदी जी ने मूल रूप से हिन्दी में लिखे थे, जिन्हें बाद में अनूदित किया गया. यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि आज तक यह पुस्तक हिन्दी में उपलब्ध नहीं है, क्योंकि इस पुस्तक को छापने के लिए कोई प्रकाशक तैयार नहीं है.'[1] यहाँ इस टिप्पणी को यह बताने के लिए उद्धृत किया है कि इस अंक के प्रकाशन के बाद हिन्दी के अनेक लब्धप्रतिष्ठित प्रकाशक बेदीजी के पास पुस्तक छापने के आकर्षक प्रस्ताव लेकर पहुँचे थे। ऐसा था भारती के धर्मयुग का प्रभाव।

भारती की एक अन्य विशेषता यह थी कि जिस विषय पर भी सामग्री देनी होती उसके लिए वे सदैव ऐसे लेखक का चयन करने का प्रयास करते थे कि पढ़ने के बाद लगे कि इससे बेहतर तो कोई लिख ही नहीं सकता था। समय को समय से पहले भांप लेने की उनकी क्षमता भी अद्भुत थी। शत्रुघ्न सिन्हा और विनोद खन्ना लगभग एक ही साथ फिल्मों में आये थे। यह 1972 की बात है, तब विनोद खन्ना तो सुनील दत्त के साथ 'मन का मीत' कर चुके थे पर शत्रुघ्न को कोई उल्लेखनीय ब्रेक नहीं मिला था। धर्मयुग में उन दिनों

1. धर्मयुग , 7 जुलाई 1985, पृ. 11

रवीन्द्र श्रीवास्तव फिल्म पृष्ठ के प्रभारी थे, भारती ने उन्हें बुलाकर कहा– 'यह लड़का आने वाले दिनों में कई हिट फिल्में देगा, इस पर विनोद खन्ना से कुछ लिखवाओ।' तब कुछ सहयोगियों का यह भी कहना था कि भारतीजी विशुद्ध साहित्यिक आदमी, सिनेमा के बारे में क्या जानें ? पर समय साक्षी है कि उनका अनुमान कितना सही निकला था। 2 जुलाई 1972 के अंक में विनोद खन्ना का लेख छपा। लेख का समापन कुछ इस तरह हुआ था–

'उस दिन स्टूडियो से हम फिर साथ निकले थे। निकलते ही उसने कहा– 'चलो जरा फलाँ प्रोड्यूसर के घर होते हुए चलेंगे।' 'क्या काम है ?' मैंने कहा। कहने लगा 'काम माँगने जाना है।' मेरा खयाल था कि उसके पास काम काफी है और उसे इससे ज्यादा काम लेना नहीं चाहिये। मैंने उससे यही कहा कि अगर काम अच्छा करना चाहते हो तो फिल्में सेलेक्ट कर के लो, ज्यादा काम ले लेने से क्वालिटी खराब हो सकती है। 'आपका भाषण खत्म हो गया हो तो अब चलिये।' उसने ताना मारा। प्रोड्यूसर के घर पहुँचकर देखा, वह फिल्म इन्स्टीट्यूट से नये आये किसी लड़के की सिफारिश कर रहा था। अपना कोई काम नहीं था उसे। इन्स्टीट्यूट के लिए कुछ ऐसी ही आत्मीयता है उसे और इसी आत्मीयता ने **शत्रु** को सारे इन्स्टीट्यूट वालों का सबसे बड़ा मित्र बना रखा है।' [1] तब ये दोनों संघर्षरत थे। बाद के दिनों में इन्होंने फिल्म इन्डस्ट्री में तो झण्डे गाड़े ही, आज ये दोनों (विनोद खन्ना और शत्रुघ्न सिन्हा) केन्द्र सरकार में मंत्री हैं। यह थी प्रतिभा को पहचानने की

1. धर्मयुग , 2 जुलाई 1972, पृ. 53

भारती की क्षमता, भले ही वह प्रतिभा किसी भी क्षेत्र में क्यों न हो।

धर्मयुग में कई अंकों तक एक स्तम्भ प्रकाशित हुआ था 'मेरे जीवन की सबसे मनोरंजक भूल'। इस स्तम्भ में ख्यातिप्राप्त व्यक्तियों से जुड़ी रोचक घटनाएँ उन्हीं की कलम से प्रस्तुत की जाती थीं। इससे लोगों को अपने प्रिय पात्रों से अंतरंग होने का सुयोग मिलता था। इसी प्रकार एक धरावाहिक लेखमाला छपी थी 'हम विषपायी जनम के'। इसमें उन अनजाने चेहरों की त्रासदी का वर्णन होता था जो मंच पर तो लोगों का मनोरंजन करते थे किन्तु नेपथ्य में जाने कितना दर्द चुपचाप पीते रहते थे। इसे भी पाठकों ने खूब पसन्द किया।

धर्मयुग के चुटकुले इतने चुटीले होते थे कि कई-कई दिन तक पाठकों को गुदगुदाते थे। पहले यह 'रंग और व्यंग्य' स्तम्भ में छपते थे, बाद में इसके साथ ही एक अन्य स्तम्भ शुरू किया गया 'व्यंग्य परिहास- अपने आसपास'। इसमें पाठकों द्वारा भेजी गईं वे सच्ची घटनाएँ छपती थीं जिन्हें पढ़कर पाठक हँसी के मारे लोटपोट हो जायें। ऐसी विशेषताओं का सिलसिला अन्तहीन है। प्रत्येक अंक अपने आप में विशेषांक होता था।

यह सब धर्मवीर भारती की उत्कृष्ट कोटि की पत्रकारिता की ही परिणिति है। वैसे तो धर्मयुग का एक-एक शब्द भारती की परिकल्पना और कौशल से ही सजता-संवरता था परन्तु ऐसी स्तरीय पत्रिका को रूपायित करते हुए स्वयं लेखन के लिए समय निकाल पाना बहुत ही मुश्किल कार्य था , फिर भी यदा-कदा भारती की लेखनी से निःसृत लेखादि भी पाठकों को उपलब्ध होते

रहते थे। हाँ , इतना अवश्य है कि अन्य सम्पादकों की भाँति छपने के लिए कुछ तो भी लिखते रहना उन्हें कभी नहीं भाया। वे यशेषणा से सदैव कोसों दूर रहे।

यहाँ एक दोहा याद आता है – 'काजर की कोठरी में कैसो हू सयानो जाय, एक रेख काजर की लागिहू पै लागि है।' भारती की सम्पादकीय तटस्थता पर काजल की जो क्षीण सी रेख लगी वह ये थी कि पुष्पा भारती के मामले में वे पक्षपाती और पूर्वाग्रही हो उठते थे। धर्मयुग में पुष्पा भारती जितनी प्रमुखता से (कई बार तो प्रमुखता का भी अतिरेक हो जाता था) छपीं वह कतई सम्भव नहीं था यदि इस पत्रिका के सम्पादक धर्मवीर भारती न होते। कहने वाले तो यहाँ तक कहते हैं कि पुष्पा भारती तो केवल नाममात्र के लिए कच्चा माल जुटा लाती थीं, बाकी सारा काम तो भारतीजी स्वयं करते थे। जिन बातों के प्रमाण न हों उन्हें आधार बनाकर किसी भी नतीजे पर पहुँचना सदैव खतरनाक रहता है, इसलिए इस प्रसंग को अनावश्यक तूल न देना ही उचित है।

प्रसंगवश मेरी व्यक्तिगत राय यह है कि पुष्पा भारती द्वारा लिए गए सोनिया गांधी और अमिताभ बच्चन के साक्षात्कार जितनी गरिमा और प्रमुखता से धर्मयुग में छपे उसमें भारतीजी का विशेष आग्रह और अनुग्रह तो निश्चित रूप से निहित है ही। सोनिया गांधी के साक्षात्कार पर प्राप्त प्रतिक्रियाएँ पूरे दो पृष्ठों में छपी थीं, ऐसा महत्व किसी अन्य लेखक को न मिलना ही इतना तो साबित करता ही है कि पुष्पाजी के मामले में भारती की सम्पादकीय निर्ममता

बेहद शिथिल हो जाती थी।

भारती की पत्रकारिता का प्रधान आयाम उनका सम्पादकीय कौशल ही है। धर्मयुग में निरन्तर 27 सालों तक यह कौशल उन्होंने पूरी कुशलता और निपुणता के साथ सिद्ध किया। यह कहने में रंचमात्र भी अतिशयोक्ति नहीं है कि यदि सन् 1960 में भारती ने इलाहाबाद से बम्बई तक का सफर न किया होता तो हिन्दी साहित्य और हिन्दी पत्रकारिता की रेल में आज के कई नामी-गिरामी साहित्यकार और पत्रकार अनचढ़े ही रह जाते। इस अविस्मरणीय योगदान के लिए साहित्य और पत्रकारिता की आने वाली पीढ़ियाँ चिरन्तनकाल तक उनकी ऋणी रहेंगी।

000

सप्तम अध्याय

भारती की हिन्दी पत्रकारिता के विविध आयाम

सप्तम अध्ययाय

भारती की हिन्दी पत्रकारिता के विविध आयाम

पत्रकारिता का ऐसा कोई भी आयाम नहीं है जो भारती की कलम से अछूता रहा हो। शब्द तो वही होते हैं जो शब्दकोश में पहले से ही विद्यमान हैं परन्तु भारती की लेखनी से निःसृत होकर उनमें जो अर्थ भर उठते हैं, अपने पाठक के साथ वे जो तादात्म्य बनाते हैं और उनकी छुअन पाठक के मन में जो अहसास जगाती है उसके कारण इन शब्दों का अपना अलग ही आभा-मंडल निर्मित हो उठता है। यह आभा-मंडल ही भारती की निजी उपलब्धि है। यहाँ आकर वे भीड़ का हिस्सा नहीं बनते बल्कि उसका नेतृत्व करते नज़र आते हैं। उसे दिशा देते दृष्टिगत होते हैं। उसे कहीं से ले जाकर कहीं पहुँचाते हुए प्रतीत होते हैं।

भारती के पत्रकार का आकलन करते समय हमें इस बात को भी स्मरण रखना पड़ेगा कि उनके पत्रकारीय जीवन के स्वर्णिम 27 वर्ष वे हैं जो उन्होंने धर्मयुग में सम्पादक के रूप में बिताये हैं। अभ्युदय, संगम, निकष और नयी कविता के लिए उनके योगदान की चर्चा हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं।

उनके सम्पादकीय कौशल पर भी काफी चर्चा हो चुकी है। इसीलिए इस अध्याय में हम धर्मयुग में उनकी लेखनी से विविध विधाओं में लिखे गए कुछ उल्लेखनीय लेखों के माध्यम से भारती की पत्रकारिता के विविध आयामों की विवेचना करेंगे।

भारती की पत्रकारिता पर कोई भी चर्चा तब तक पूरी नहीं हो सकती जब तक उनकी युद्ध पत्रकारिता को रेखंकित न किया जाये। सन् 1971 में हुए भारत-पाकिस्तान युद्ध के समय बंगला देश की मुक्ति वाहिनी द्वारा भारतीय सेना के सहयोग से चलाये गए गुरिल्ला युद्ध को नज़दीक से देखने के लिए भारती ने भारतीय सेना के सहयोग से बंगलादेश जाकर एक सच्चे पत्रकार की तरह उस युद्ध का हिस्सा बनकर सब कुछ अपनी आँखों से देखा ही नहीं बल्कि स्वयं जिया भी। वहाँ से लौटकर धर्मयुग में 'मुक्त क्षेत्रे- युद्ध क्षेत्रे' शीर्षक से जो धारावाहिक रिपोर्ताज छपा वह आज भी पत्रकारों और पत्रकारिता के विद्यार्थियों के लिए किसी गीता-रामायण से कम नहीं है। बाद में भारत सरकार ने भी उनकी इस पत्रकारिता को सम्मान देते उन्हें 'पद्म श्री' से विभूषित किया। यहाँ हम भारती की पत्रकारिता का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत करेंगे :-

1. सम्पादकीय लेखन
2. विवरणात्मक पत्रकारिता
3. साहित्यिक पत्रकारिता
4. संस्मरण

सम्पादकीय लेखन

सम्पादकीय लेख किसी भी पत्र या पत्रिका का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश होता है। समाचार पत्र में सम्पादकीय लेख का वही स्थान है, जो शरीर में मुख का। मुख की शोभा कम तथा तर्कसंगत बोलने में है। सामान्य पाठक केवल सुर्खियाँ पढ़कर ही संतोष का अनुभव कर सकता है, किन्तु किसी भी भाषा और संसार के किसी भी देश के विवेकवान पाठक सम्पादकीय लेख अवश्य पढ़ते हैं।

सामान्य पाठक द्वारा सम्पादकीय लेख न पढ़ने की बीमारी बहुत पुरानी तथा विश्वव्यापी है। नन्दकुमार देव शर्मा ने पत्र सम्पादन कला में अमेरिका की इलोनिय स्टेट के एक समाचार पत्र का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उसके सम्पादक को मोटे-मोटे अक्षरों में पाठकों से यह प्रार्थना करनी पड़ी थी कि - इस पत्र को तब तक नीचे मत रखना, जब तक तुम इसका सम्पादकीय पृष्ठ न पढ़ लो।[1] प्रेमचन्द गोस्वामी ने भी सम्पादकीय लेख एवं पृष्ठ की पाठकों द्वारा उपेक्षा को इन शब्दों में रेखांकित किया है- 'यह एक विचित्र तथ्य है कि सम्पादकीय पृष्ठ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पृष्ठ होते हुए भी पाठकों द्वारा सबसे अन्त में पढ़ा जाता है। समाचार पत्र या पत्रिका हाथ में आते ही सबसे पहले पाठक की नज़र सुखियों पर दोड़ती है। उसके बाद उसकी दृष्टि अपनी व्यक्तिगत रुचि के स्तम्भों पर जाती है। सम्पादकीय पृष्ठ में जो कुछ सामग्री होती है औसत दर्जे के पाठक के अध्ययन को दृष्टि में

1. पत्रकारिता के मूलभूत सिद्धान्त : राधेश्याम शर्मा, पृ. 67

रखकर तैयार नहीं की गयी होती है। औसत पाठक की सम्पादकीय पृष्ठ में या तो बिल्कुल ही रुचि नहीं होती और यदि होती भी है तो सबसे अन्त में। यदि समय मिल गया तो वह उसका पाठ शान्ति से करता है।'[1]

सम्पादकीय लेख साधारण पाठक पढ़े या न पढ़े, इससे उसके महत्त्व में कोई कमी नहीं आती। वस्तुतः जिन लोगों के एक-एक वाक्य से पूरे-पूरे समाज का दृष्टिकोण परिवर्तित होता है, जो समाज को दिशा देने वाले लोग हैं वे अवश्य ही सम्पादकीय लेख पढ़ते हैं। यही कारण है कि सम्पादकीय लेखों की सरकारें बनाने व बिगाड़ने तक में महत्वपूर्ण भूमिका होती है किन्तु उसकी यह भूमिका कुछ भी लिख देने मात्र से नहीं बनती। इसके लिये यदि किसी को श्रेय दिया जा सकता है तो उस सम्पादक को जो अथक निष्ठा और परिश्रम से कार्य करते हुए सर्वदा स्वार्थ-निरपेक्ष रहता है।

सम्पादकीय लेखन के बारे में भारती का दृष्टिकोण अन्य सम्पादकों से भिन्न था। सम्पादकीय लेखों के प्रति पाठकों की मानसिकता को ध्यान में रखकर उन्होंने धर्मयुग में सम्पादकीय लेखन की प्रथा ही बन्द कर दी। उन्होंने सम्पादकीय लेखन विशेष परिस्थितियों में तभी किया जब ऐसा करना बहुत आवश्यक लगा। उनका मानना था कि जो शब्द रचना पाठकों को साग्रह पढ़वानी पड़े वह कभी भी अपने उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकती। मैंने भारती के धर्मयुग के सन् 1965 के बाद के प्रायः सभी अंकों का अध्ययन किया है। उन्होंने बहुत ही कम अंकों में सम्पादकीय लेख लिखे हैं।

1. पत्रकारिता के मूलभूत सिद्धान्त : राधेश्याम शर्मा, पृ. 68

श्रीमती इन्दिरा गांधी की हत्या पर उनके द्वारा लिखा गया सम्पादकीय पत्रकारीय इतिहास का एक ऐसा दस्तावेज है जिसे कभी भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। 31 अक्टूबर 1984 को जब श्रीमती गांधी की हत्या की गई थी उन दिनों कर्मचारी हड़ताल के कारण धर्मयुग का प्रकाशन बन्द था। 23 दिसम्बर 1984 को जब धर्मयुग का प्रकाशन पुनः प्रारम्भ हुआ, तब उस अंक में भारती ने 'पक्षी माता' शीर्षक से बहुत ही मार्मिक सम्पादकीय लिखा था। उक्त सम्पादकीय लेख यहाँ अविकल प्रस्तुत है :-

पक्षी माता [1]

कभी-कभी वक्त कैसा अज़ीब बीतता है, घटनाचक्र कैसा अप्रत्याशित घूम जाता है! अगस्त, सितम्बर, अक्टूबर, नवम्बर- लगभग साढ़े चार महीने के बाद जब हम आपके समक्ष फिर उपस्थित हैं- देश के इतिहास का एक युग झटके से बदल चुका है।

जब सहसा हड़ताल हुई, धर्मयुग का 12 अगस्त का स्वाधीनता दिवस विशेषांक मशीन पर जा चुका था। मुख पृष्ठ पर श्रीमती गांधी का चित्र था और सह शीर्षक था- 'संकटों के समक्ष सुदृढ़ संकल्प'। जिन बाहरी और अन्दरूनी संकटों की ओर वे बार-बार संकेत कर रही थीं, उन्हीं के विविध पहलुओं के विश्लेषण-विवरण सहित बहुत दुर्लभ सामग्री हम प्रस्तुत कर देश को उन खतरों से सावधान करना चाहते थे, जिनकी आशंका ही नहीं होने लगी थी, बल्कि कुछ सिरफिरे लोग जिसकी खुलेआम धमकियां देने लगे थे।

1. धर्मयुग : 23 दिसंबर 1984, पृ. 6-7

जिस दिन वह स्तब्ध कर देने वाला दुखद समाचार आया, सचमुच लगा जैसे भरी दोपहर में अंधेरा छा गया हो। टेलिप्रिन्टर से केबिन, केबिन से घर, घर से फिर प्रेस तक दौड़ते-भागते, दिल्ली को फोन मिलाते, अकुलाते, घबराते जाने क्यों उस दिन एक आवाज यादों की गहराइयों से उठकर बार-बार मन में गूंज रही थी।

आज से लगभग बारह-तेरह वर्ष पहले की बात। बांगला देश की दूसरी या तीसरी यात्रा। ढाका, धानमंडी में मुजीब साहब के घर से थोड़ी ही दूर पर था उनका घर। हम बैठे उनकी कविताएँ रेकॉर्ड कर रहे थे। उनकी बूढ़ी कांपती भरी-भरी आवाज- *'तुमने अपने डैने फैलाकर हमें उसमें दुबका लिया / हत्यारे पिशाचों से हमें बचा लिया / ओ पक्षी माता!'* और फिर वे डबडबायी आँखें उठाकर बोलीं -'समझे भारती, यह मैंने इंदिरा बेटी के लिए कहा है। बेटी है, पर उसने माँ की तरह हमें बचाया है, हमारे सारे बांगलादेश को बचाया है-पक्षी माता!' वह आवाज थी सूफिया बेगम कमाल की। बांगला देश की वयोवृद्ध कवयित्री। जब जनरल इरशाद ने दिल्ली में इंदिरा जी को श्रद्धांजलि देते हुए कहा - 'उन्होंने बांगलादेश को जन्म दिया वे बांगलादेश की माता थीं।' तो मुझे हजार-हजार दिशाओं से फिर वही बूढ़ी काँपती आवाज सुनाई दी- 'पक्षी माता!'

उनकी अनेक नीतियों की मैंने प्रखर आलोचना की है, पर उनके अनेक गुणों, उनकी उपलब्धियों, उनकी दृढ़ता को सराहा भी है। और यह फिर कहना चाहूँगा कि पिछले दो वर्ष की गुलामी और पराजय के इतिहास को

यदि किसी ने मोड़ दिया तो वह इंदिरा जी ने। हर बार आक्रमणकारी आते, हमें पराजित, पददलित कर चले जाते। पराजय, टूटन, बिखराव जैसे हमारी नियति बन गए थे – पहली बार उन्होंने बताया कि निस्वार्थ विजय का उल्लास क्या होता है। एक पिछड़े हुए लेकिन आजाद देश का स्वाभिमान क्या होता है, जो सातवें बेड़े की धमकी के बावजूद निडर अपनी विजय यात्रा पूरी करता है। और वह विजय यात्रा भी ऐसी जिसमें किसी देश पर कब्जा करने की दुरभि संधि नहीं, किसी को अवमानित करने की लालसा नहीं – केवल न्याय का पक्ष लेकर लड़ने की निष्ठा और विजयी होने का विश्वास।

उस विश्वास को एक पुराना विश्वासपात्र ही छलेगा, जो हाथ रक्षा के लिए नियोजित थे वे ही रक्षा के उपकरण बन जायेंगे, इसकी कल्पना कौन कर सकता था ? जाहिर है यह घटना इसलिए तो मर्माहत कर ही गयी कि कि कृतज्ञता और मानवीय विश्वास के वे गहरे मूल्य भी हम खोने लगे हैं, जो भारत की नैतिक परम्परा के अभिन्न अंग थे।

* इसमें कोई संदेह नहीं कि यह केवल किसी एक या दो या तीन व्यक्तियों का अकेला मानसिक आवेश नहीं, इसके पीछे दुरभिसंधियों का एक लम्बा खुफिया सिलसिला है। उस सिलसिले की कड़ियां क्या हैं ? कौन लोग, कौन ताकतें, कौन साज़िशें उसके पीछे थीं इसकी जांच तो प्रशासन कर रहा है, पर क्या वह जांच ही काफी है ? हम जो बुद्धिजीवी कहे जाते हैं, जो लिखने-पढ़ने, सोचने-समझने वाले लोग हैं, क्या उनके लिए यह जरूरी नहीं कि हम अपने तौर पर, अपने स्तर पर भी यह जांच करें कि इस जघन्य

मानसिकता की जड़ें कहाँ हैं ? 31 अक्टूबर को होने वाली इस घातक हिंसा के पीछे हिंसा का कौन सा सिलसिला चला आ रहा है और 31 अक्टूबर के बाद लगभग एक सप्ताह तक निन्दनीय प्रतिहिंसा का जो खौफनाक दौर चला उसका अर्थ क्या है ? आखिर हिंसा, प्रतिहिंसा, प्रति-प्रतिहिंसा का यह जो अंतहीन सिलसिला है, यह कहाँ से आया और हमें कहाँ ले जायेगा ? क्या इसका कोई अंत है ?

कुछ लोग हर चीज को टुकड़ों में बाँटकर ही देख पाते हैं। उनके पास कोई सम्यक दृष्टि नहीं होती। कोई ऐसी चीज उनके लिए दुनिया में नहीं है जो सबकी हो, सबके लिए हो, सबका सच हो। उनके लिए सत्य भी बंटा हुआ होता है। हमारा सच हमारा सच, तुम्हारा सच तुम्हारा होगा। और फिर यह मानसिकता जब और विकसित होती है तब हम एक कदम और आगे बढ़कर कहने लगते हैं कि हमारा सच सच है, तुम्हारा सच झूठ है। और फिर हमारा सब गलत किया धरा भी सही है, तुम्हारा सब सही किया धरा भी गलत है। इसी पर व्यंग्य करते हुए कभी हमारे यहाँ कहावत बनी थी- 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।' हम सत्य की तरह असत्य को भी बांट लेते हैं। घृणा और हिंसा को भी टुकड़ों में बांट लेते हैं। हमारी दृष्टि सम्यक नहीं रह जाती। फिर हम मानने लगते हैं कि हमारी पार्टी जो हिंसा करे वह हिंसा नहीं, हमारी जाति वाले जो हिंसा करें वह हिंसा नहीं, हमारा स्वार्थ साधने वाले जो हिंसा करें वह हिंसा नहीं, बाकी सब हिंसा है।

लेकिन प्यारे भाई, जैसे चरम सत्य बंटा हुआ नहीं हो ससकता वैसे ही

चरम असत्य बंटा हुआ नहीं हो सकता। हिंसा बंटी हुई नहीं हो सकती। नदी अपने स्रोत में बूंद-बूंद टपकी हुई क्षीण धार हो सकती है, पर वही सागर संगम पर अथाह अपार जलराशि बन जाती है, और याद रखिये नदी उस एक बूंद से लेकर मुहाने की अपार जलराशि तक वही एक नदी होती है। यही बात घृणा की, हिंसा कर नदी के लिए भी शत-प्रतिशत सही है। जो घृणा निर्दोषों की छिटपुट व्यक्तिगत हत्याओं से शुरू होती है वही संचित होते-होते वर्षों बाद उस उत्तेजित विवेकहीन भीड़ की पाशविक हिंसा में रूपांतरित हो जाती है, जहाँ मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता। हम अगर इस समूची प्रक्रिया के एक ही अंश को पकड़कर बैठ जायें तो हम आदि से अंत तक समूची नदी के सही जुगराफिये को कैसे समझ पायेंगे? कैसे समझ पायेंगे कि यह पागल नदी कहाँ-कहाँ खतरे का बिन्दु पार कर रही है? कौन से गांव, कौन सी बस्तियां, कौन से खेत, कौन सर झोंपड़ियां, कौन से राजमहल इसकी चपेट में आने वाले हैं।

यह तो घृणा की पागल नदी है, तटबंधों को तोड़कर मर्यादाहीन होकर गरजती हुई बह रही है। आज दायां कगार ढहा दिया है, तो आगे चलकर बायां कगार ढहा देगी, आज इस किनारे के गांव को निगला है तो कल उस किनारे के कस्बे को भी तहस-नहस कर देगी। कौन है जो अपनी खटिया-मचिया लेकर अपने-अपने अंधेरे बंद कमरे में अपने को सुरक्षित समझकर बैठा हुआ है? दोस्तो, इस अंधे प्रवाह को मर्यादा में नहीं बांधा गया तो कोई सुरक्षित नहीं। हमारे पांवों तले की जमीन भी बहा कर ले जाने का अथाह वेग

होता है इस घृणा की, इस हिंसा की नदी में!

और क्या यह सही नहीं है कि पिछले दस-बारह वर्षों से हमारे इस देश में घृणा और हिंसा की कितनी ही उबलती नदियां चारों तरफ फूट आयी हैं। और हिंसा तथा घृणा की इन जहरीली उपधाराओं को कहीं राजनैतिक पार्टियों का प्रश्रय मिल रहा है, कहीं धर्मगुरुओं, संतों और पुरोहितों का प्रश्रय मिल रहा है, कहीं यह जाति के नाम पर पनप रही है, कहीं क्षेत्र के नाम पर, कहीं भाषा के नाम पर, कहीं किसी रूप में कहीं किसी रूप में- और यह दिनोंदिन उच्छृंखल, मर्यादाहीन होती चली जा रही है- और हम अपनी-अपनी खंडित दृष्टि लेकर अपनी-अपनी मानसिकताओं के घेरों में बंद बैठे हुए हैं, खंड-खंड हिंसाओं को नज़रअन्दाज करते हुए।

और कितने बुद्धिजीवी हैं जिन्होंने इस नदी के समूचे जुगराफिये को नापने की कोशिश की? कुछ के अलावा बाकी सब एक-एक लहर को पकड़ कर बैठने की कोशिश कर रहे हैं, पूरे प्रवाह और उसकी ध्वंस-सामर्थ्य को न देखते हुए। इसलिए जब वे बोलते हैं तो उनकी टुकड़ा-टुकड़ा आवाज में सिर्फ टुकड़ा-टुकड़ा सच्चाई होती है और दोस्तो, जो सच्चाई टुकड़े-टुकड़े में बांट दी जाती है वह सच्चाई रह ही नहीं जाती।

जरूरत है यह समझने की कि पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में इस देश में जमींदोज़ हिंसा का जो लावा अलग-अलग जगह फूट पड़ा है- कहीं राजनीतिक दलों की छाया में, कहीं धर्मस्थलों की छाया में, कहीं ऊंच-नीच जातियों की छाया में, कहीं प्रांत, प्रदेश, क्षेत्र और भाषा की छाया में, कहीं तस्करी और

धन संचय की नव उपभोक्ता संस्कृति (या विकृति) की छाया में, कहीं आयातित उधार के क्रांति-सिद्धान्तों की छाया में- वह तमाम हिंसा मूलतः शयद एक है, सिर्फ उसके आयाम अलग-अलग हैं।

इस देश में, जो अहिंसा के उदात्ततम सिद्धान्त का जनक है, यहाँ जब हम प्रजातंत्र की नींवें मजबूत करने में लगे हैं, यह हिंसा का बहुरूपी काल-प्रवाह कहाँ से फूट पड़ा है ? पिछले पन्द्रह वर्षों में हमने इसके बुनियादी स्वरूप को, इसकी समग्रता में समझने-जांचने और इसका समूचा निराकरण करने की कोशिश क्यों नहीं की ?

* हमने अहिंसा की बात उठायी और उसके बाद ही प्रजातंत्र की। यह केवल अकारण नहीं। ये दोनों एक ही सभ्यता के दो अभिन्न संस्कार हैं। पृथ्वी तल पर पाशविक स्थितियों से उबरकर जब मनुष्य ने मनुष्य बन कर रहना शुरू किया, धीरे-धीरे सभ्यता का विकास किया, तब उस साारी सभ्यता का मूल आधार एक ही था हिंसा का परित्याग। दूसरे मनुष्य को अपना शिकार या अपना भक्ष्य न समझकर उसे अपना ही प्रतिरूप मानना और उसे वही अधिकार देना जो हम अपने लिए चाहते हैं।

यदि हमारा उससे मतभेद है तो उसके कारण उसकी हत्या कर अपने को सच साबित करने के बजाय मतभेदों के बावजूद उसके और अपने बीच के साझे सत्य को खोजना और एक सामूहिक अर्थवान स्थिति का निर्माण करना, जहाँ परस्पर एक-दूसरे के जीवन की रक्षा हो, परस्पर विनाश नहीं- यही अहिंसा का मूल अर्थ है और प्रजातांत्रिक पद्धति का यही मूलाधार है। हमें यह

कहने में रंचमात्र संकोच नहीं कि कोई भी तानाशाह, कोई भी राजनीतिक नेता, कोई भी धर्मगुरु, कोई भी चिन्तक, कोई भी गैंग लीडर जो यह कहता है कि अपने से मतभेद रखने वाले को तलवार या बन्दूक या ग्रेनेड से खत्म कर दो या उसके घर-बार को पेट्रोल छिड़क कर जला दो - वह न केवल प्रजातंत्र का वरन मानव सभ्यता के मूलभूत आधार का दुश्मन है - वह लाखों साल में विकसित हुई मानव सभ्यता के चक्र को पलटकर इन्सान को फिर गुहामानव की नरभक्षी पाशविक स्थिति तक ले जाने की पहल करना चाहता है।

और इसके लिए वह पहले इन्सान की मूलभूत एकता को झूठे खानों में बांटता है - जातियों के चौखटे, सम्प्रदायों के चौखटे, वर्णभेद के चौखटे, वर्गभेद के चौखटे, और उनमें नफरत और हिंसा टुकड़े-टुकड़े कर के रख दी जाती है। यह टुकड़ा नफरत का हमारा-यह सही, यह टुकड़ा नफरत का उसका-यह गलत। और फिर आते हैं अपनी-अपनी टुकड़ा-टुकड़ा सच्चाइयों के पक्षधर बुद्धिजीवी और भ्रांतियां घटने के बजाय बढ़ती जाती हैं और अंधियारा घटने के बजाय बढ़ता जाता है और इस अंधेरे में कगारों को ढहाती, बस्तियों को निगलती, दंगा, आगजनी, खूंरेजी, नरदाह वाली हिंसा के पिघले लावे की धधकती नदी और किनारे की घास में कहीं पड़ी होती है 'पक्षी माता घायल, विश्वासघात के क्षणों में केवल यह पूछती हुई 'यह क्या कर रहे हो?''

* इस भयानक घटनाचक्र के दारुण, दहशतनाक अहसासों से गुजरकर

अब हम चुनाव की देहरी पर खड़े हैं। यह हमारी परम्परा और संस्कृति की अन्तर्निहित शक्ति है कि जब अनेक देश तानाशाही के जाल में फंसते गये हम तमाम अवरोधों और संकटों के बावजूद अपने प्रजातंत्र को दृढ़ता से अपनाये रहे। पर आज इस मोड़ पर हमारा एक और गहन दायित्व है। मतदान केन्द्रों पर हम अपने प्रतिनिधियों को चुनेंगे जो शासन के भागीदार बनें। पर एक चुनाव और हमें करना है, अपने मन के अन्दर, अपने मन की गहराइयों में उतरकर, खूब सोचकर, विचार कर।

क्या हम नफरत और हिंसा की टुकड़ा-टुकड़ा भ्रांतियों में फंसकर उस आदिकालीन दरिन्दगी और वहशत की ओर लौटना चाहते हैं, जहाँ हम श्रेष्ठ मनुष्य बनते हैं, सम्पूर्ण मनुष्य बनते हैं और हमारा देश महान मनुष्यता का देश बनता है- एक अनूठी महाशक्ति बनता है जिसकी शक्ति केवल अणु अस्त्रों के संचय पर आधारित नहीं है, जिसकी शक्ति उसके नागरिकों की चरित्र शक्ति पर आधारित है - उनके आपसी प्रेम, समझदारी, एकता, प्रजातांत्रिक सद्भाव, मर्यादा-निष्ठा और स्वातंत्र्य-संकल्प पर आधारित है।

बाहरी चुनाव के साथ-साथ मन के अन्दर मूल्यों का यह चुनाव भी बहुत जरूरी है। दोनों रास्ते आपके सामने है - आत्मध्वंस का, आत्म निर्माण का, राष्ट्रघात का, राष्ट्रनिर्माण का।

देखें इस नाज़ुक मोड़ पर आप कौन सा रास्ता चुनते हैं ?'

उपरोक्त सम्पादकीय लेख इस तथ्य का परिचायक है कि भारती राष्ट्रीय और सामाजिक सरोकारों और सम्पादकीय दायित्वों के प्रति कितने सजग

रहते थे। चूँकि वे यदा-कदा ही सम्पादकीय लेख लिखते थे, इसलिए जब भी लिखते थे उसकी राष्ट्रव्यापी प्रतिक्रिया होती थी। यह उनकी पत्रकारीय सफलता का एक और उदाहरण है।

विवरणात्मक पत्रकारिता

वस्तुत: विवरणात्मक पत्रकारिता जैसी कोई पृथक विधा नहीं होती। रिपोर्ताज, फीचर, रेखा चित्र, यात्रा वृतान्त या ऐसी ही कोई अन्य विधा जिसके माध्यम से विषय को पूरे विस्तार के साथ पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया जा सके विवरणात्मक पत्रकारिता के अन्तर्गत आते हैं। भारती के रिपोर्ताज विशेषकर युद्ध सम्बन्धी वृतान्त उनकी विवरणात्मक पत्रकारिता के ऐसे उत्कृष्ट उदाहरण हैं जो हिन्दी पत्रकारिता में आज भी अन्यतम हैं। किसी अन्य भाषा में भी युद्ध की विभीषिका का ऐसा जीवन्त चित्रण प्राय: नहीं मिला। सन् 1971 में भारत-पाक युद्ध के दौरान भारती ने भारतीय सेना के साथ बांगलादेश जाकर युद्ध के एक-एक क्षण को जिया और बेहद बारीकी से उसे आत्मसात किया।

बाँगला देश से लौटकर उन्होंने धर्मयुग में 'मुक्त क्षेत्रे : युद्ध क्षेत्रे' शीर्षक से जो धारावाहिक सचित्र रिपोर्ताज प्रकाशित उसे पढ़कर धर्मयुग के लाखों पाठकों ने यह महसूस किया मानो वे स्वयं युद्धक्षेत्र में खड़े होकर अपनी आँखों से युद्ध को होते हुए देख रहे हों।

इसी शृंखला की एक कड़ी जो 30 जनवरी 1972 के अंक में 'युद्ध ब्रह्मपुत्र का : आधी रात का हमला' शीर्षक से प्रकाशित हुई थी, यहाँ प्रस्तुत

है। इससे भारती की लेखनी ही नहीं उनके जीवट से भी पाठक का परिचय होता है :-

युद्ध ब्रह्मपुत्र का : आधी रात का हमला [1]

रह-रहकर भयानक विस्फोट हो रहे हैं, कभी-कभी एक साथ तीन-चार। हम सुन रहे हैं। लेकिन नहीं- शायद मैं गलत कह रहा हूँ। एक क्षण ऐसा आता है, जब हम सुनते नहीं, देखते नहीं, हम तो हक्के-बक्के खड़े रहते हैं और आवाजें भयानक धमाके के साथ जाने कहां से आती हैं और दिमाग पर छप जाती हैं। और हम देखते नहीं, लेकिन अनेक बिंब विचित्र ढंग से चारों ओर हमला करते हुए आते हैं और चेतना में विचित्र ढंग से गड्ड-मड्ड होने लगते हैं।

हेलिकॉप्टर के धीमे पड़ते डैनों पर दूर-दूर तक फैले तिल के पीले फूल फूले खेत झंडे की तरह चक्कर काटने लगते हैं। धूल और रक्त में सनी पाकिस्तानी मृत सैनिकों की जर्द खाकी वर्दियों में लहूलुहान चेहरे टंक जाते हैं। दोनों ओर के घने हरे कुंजों के बीच से गुजरती खूबसूरत साफ पक्की सड़क पर पेड़ के नीचे मरी पड़ी बंगाली सिविलियन स्त्री की गहरी नीली साड़ी स्याही बन कर फैलती चली जाती है, उस स्याही में दानों की तरह तैरने लगती हैं वे फौजी ट्रकों, जीपों, स्टेशन वैगनों की कतारें, जिन पर चढ़कर पाकिस्तानी सेना हमला करने आयी थी और जवाबी हमले के कारण सड़क पर छोड़कर मरती-खपती भाग गयी है। उन जीपों का कैमूफ्लाज (दृष्टिभ्रम)

1. धर्मयुग : 30 जनवरी 1972, पृ. 12

के लिए पोता गया कीचड़ और बांधी गयी हरी डालियां फिर इन हरे कुंजों में घुल-मिल जाते हैं और उभर आता है ब्रिगेडियर क्लेर का कुंज में से निकल कर छड़ी लिए धीरे-धीरे आना। और फिर विस्फोट के धमाके सब कंपा देते हैं और सर हेलिकॉप्टर के डैनों की तरह घूमने लग जाता है। पीले फूलों के प्रसार में अभी-अभी हुए युद्ध के स्थल का यह पहला प्रभाव इतने दिन बाद अब भी कभी-कभी मुझमें अपने को दोहरा जाता है, तो मेरे अनुभवों का तारतम्य टूटने लगता है।

उस समय तारतम्य बैठता है, जब ब्रिगेडियर क्लेर जल्दी-जल्दी बताते हैं कि तीन रात पहले वे अपनी टुकड़ियों के साथ इन गांवों में आकर छिप कर बैठ गये थे। कई बार पाक सेना ने अलग-अलग जगहों पर अलग-अलग हमला किया, आत्मसमर्पण के लिए साफ मना किया और चुनौती दी। पाकिस्तानी कमांडर लेफ्टि. कर्नल राजा सुलतान महमूद इधर तो चुनौती देता रहा, लेकिन कल रात को एक बजे के आस-पास उसने अपने सैनिकों को ट्रकों , जीपों पर लादा और भागने के लिये आखिरी हमला बोल दिया। उसकी योजना थी कि हमारी टुकड़ियों को मारता हुआ वह ढाका चला जाये। इस योजना का पता किसी को नहीं था।

इस सड़क के दोनों और तीन कुंजों से घिरे गांव थे, जिनमें हमारी सेना छिप कर बैठी थी, पाकिस्तानी कमांडर को अंदाज नहीं था कि भारतीय सेना जमालपुर के इतने पास है। बलवीर सिंह और दो सैनिक रात को उठकर सड़क पर आये तो अंधेरे में पाकिस्तानियों को देखकर समझे कि हमारे ही

सैनिक हैं। बात भी की उनसे। असलियत पता लगते ही भाग कर पोजीशन ली और फिर गोलियां चलनी शुरू हो गयीं। पहली बौछार में हमारे कई सैनिक खेत रहे, लेकिन जवाबी हमला शुरू किया और यहीं उनका कारवां रोक लिया।

एक बजे रात से सुबह चार बजे तक वे नयी-नयी कुमुक और टुकड़ियां लेकर हमला करते रहे, लेकिन हमारे बहादुर जवानों ने उनकी एक नहीं चलने दी। 200 के करीब हताहत हुए। कुछ को हमने पकड़ लिया। यह जो कीचड़-पुती खूबसूरत-सी सफेद स्टेशन बैगन है, उसी में कमांडर सुलतान महमूद था। सख्त घायल होकर आसपास के किसी गांव में छिप गया है। जमालपुर में अभी काफी पाकिस्तानी फौज है, लेकिन वे सफेद झंडा दिखा रहे हैं। यहां ये धमाके हम सुन रहे हैं, और वहां उधर एक-डेढ़ मील आगे धुआं उठ रहा है। पाकिस्तानी पचीस-तीस ट्रकों पर हथियार और गोला-बारूद ला रहे थे अपने साथ। उन ट्रकों में आग लग गयी है और वे 6 घंटों से जल रही हैं। उनमें लदे गोले और ग्रेनेड फट रहे हैं। अपने आगे दो ट्रकों में उन्होंने अल-बदर और रजाकार भर रखे थे। उन्होंने और रजाकारों ने भागते-भागते इन बेकसूर सिविलियनों को मार डाला है।

अब इस अराजक दृश्य के असंबद्ध टुकड़े जुड़ते हैं और तस्वीर कुछ साफ होती है। तो जमालपुर हमने ले लिया! धीरे-धीरे ले रहे हैं। उनकी कुछ टुकड़ियां अभी सक्रिय हैं। शेष आत्मसमर्पण कर रही हैं।

'चलो जमालपुर के अंदर चलेंगे अब।' जनरल नागरा और ब्रिगेडियर

क्लेर तय करते हैं। साधन दो ही हैं, हेलिकॉप्टर या पैदल, लेकिन नहीं, दुश्मन की एक छोड़ी हुई जीप सड़क पर तिरछी खड़ी है। ड्राइवर चाभी छोड़कर भागा है। उस जीप को क्लेर स्टार्ट करके देखते हैं। चल सकती है। वे ह्वील पर हैं, जनरल नागरा उनके बगल में। उनका इशारा पाकर हम कूदकर जीप में बैठ जाते हैं। बलबीर सिंह तथा एक और मेजर अपनी गनें दायें-बायें फायरिंग पोजीशन में साध लेते हैं।

और अब हम सड़क पर जमालपुर की ओर जा रहे हैं। सड़क खाली नहीं है। उनकी जीपें और ट्रकें, जिनमें वे भरकर जा रहे थे, सड़क के बीचोंबीच अपनी-अपनी जगह रुकी हैं- कुछ के टायर गोलियों से फट गये हैं। कुछ के शीशे चूर-चूर हैं, कुछ गोलियों की दुतर्फा बौछार में ड्राइवर से सध न पाने के कारण कच्ची पटरी पर उतर गयी हैं, कुछ सड़क पर तिरछी हो गयी हैं।

पाकिस्तानी कमांडर सुलतान महमूद की विशेष खूबसूरत सफेद स्टेशन बैगन खेत में उतर गयी है। उसके दरवाजे खुले पड़े हैं। जीपों और ट्रकों के बीच-बीच में वे भागते हुए अपनी बंदूकें, पैकेट और बूट छोड़ गये हैं और सड़क के दोनों और घास और खेतों की ओर देखने की तो हमारी हिम्मत नहीं होती। जीप सड़क पर बिखरे हथियारों पर से उछलती जा रही है।

धुआँ और धमाके नजदीक आ रहे हैं। और अब सामने है हथियारों का जलता हुआ कारवां। उसमें से बड़े-बड़े गोले फट कर हर ओर उड़ रहे हैं, जलते-धधकते हुए दो हमारी ओर भी आते हैं। शूऽऽ। हम जीप में बैठे-बैठे

ही सर झुका लेते हैं, तो कोई कहता है, 'घबराओ मत, जब उस दिन निशान सधी फायरिंग में से बच आये तो आज तो अनाथ बेनिशाना छूट रहे हैं।' लेकिन जीप रुक जाती है। दायीं ओर टेलिफोन के खंभे टेढ़े पड़ गये हैं और लम्बे-लम्बे टेलिफोन के तार बीच से टूट-टूट कर सड़क पर बिखर गये हैं। एक पहिये में तार उलझ गया है।

जमालपुर शहर में जाने की यहां से यही एक सड़क है और उस पर ये फूटते हुए ज्वालामुखी। और जाना तो है ही अंदर, क्या पैदल जायें ? लेकिन सड़क पर गिरी हुई पेटियां और बारूद सुलग रही है। बड़े-बड़े कांच टूटे पड़े हैं और मोर्टार के गोले गिरे हैं और हैंडग्रेनेड, सड़क पर उतर कर हम पैदल जाएंगे कहां ? और अब हम योद्धा ब्रिगेडियर क्लेर की ड्राइविंग का चमत्कार देखते हैं। एक झटके के साथ जीप बढ़ी है और सांप की तरह बल खाती हुई टेढ़ी-मेढ़ी उन जलती ट्रकों, बिखरे ग्रेनेडों, टूटे तारों, फूटते गोलों के बीच से बिजली की तेजी से बढ़ रही है। मुझे याद है, थोड़ी देर को तो मैंने आंखें बंद कर ली थीं। बायीं ओर एक कच्ची सड़क रेल लाइन के पास से जाती हैं। वहां थोड़ी किनारे पर जीप खड़ी कर ली गयी है। यहां कारवां के बीचोबीच तोपें लाद कर ले जायी जा रही थीं।

जनरल और क्लेर उतर कर सहज भाव से तोपों की जांच-पड़ताल कर रहे हैं। कुछ छोटी-छोटी खूबसूरत अंडाकार चीजें सड़क पर बिखरी पड़ी हैं। मैं कुतूहल से देखता हूँ कि ब्रिगेडियर की आवाज सुनाई पड़ती है, अगर जीते जी उड़ना चाहो, तो उन्हें जरा पैर से ठोकर दो। तुरंत उड़ जाओगे। वे ग्रेनेड

हैं। मैं चौंक कर पीछे हट आता हूँ। जीप फिर आगे बढ़ती है उसी आग और धुएं के बीच से और जब हम रेल की क्रासिंग के पास पहुंचते हैं, तो देखते हैं, सड़क के नाम का अंग्रेजी बोर्ड लगा है, 'कायदे मिल्लत रोड' और कुछ दूर पर एक वीरान सूखा पार्क है 'कायदे आजम जिन्ना पार्क।'

इन तमाम बिखरी पाकिस्तानी और बंगाली सिविलियन लाशों, धधकते गोलों वाली सड़क का नाम और हो ही क्या सकता था? और सिवाय जिन्ना पार्क की सूखी वीरानगी के और वह पहुंचा ही कहां सकती थी? लाइन क्रॉस पर अब हम शहर की मुख्य सड़क पर प्रवेश करते हैं। सड़क बिल्कुल खाली। दोनों ओर के घर, दुकानें बंद, खिड़कियाँ दरवाजे बंद। एक अजीब सी दहशत होती है। दूकानें खुली होतीं, तो शायद ऐसा न लगता, लेकिन अब हर कदम पर यह लगता है कि पता नहीं किस बंद मकान में कौन छिपा हो, किस दूकान के तख्ते के पीछे से कौन बंदूक की नली झांक रही हो। कुछ देर पहले एक इमारत देखी थी, जहां पाकिस्तानी छिपे थे और आत्मसमर्पण करने के पहले उन्होंने काफी देर तक गोलियां चलायी थीं। स्कूल की सूनी इमारत, क्लासरूमों में हथियार भरे थे और बरामदों में बुलेट की पेटियों के थक्के के थक्के, बरामदे में एक मृत पाकिस्तानी सिपाही पड़ा था, उस बरामदे का भयावना सूनापन जैसे पूरी सड़क पर छाया हुआ है।

सड़क किनारे एक दूसरे बरामदे में दो व्यक्ति खड़े हैं। हमें सलाम करते हैं। एक नाटा आदमी सफेद कमीज और चारखाने की लुंगी में मुझे पास बुलाता है। कहता है कि चार पाकिस्तानी सिपाही इस सड़क पर घूम रहे थे।

उन्होंने दो व्यक्तियों को इसी सड़क पर गोली मार दी। अब किसी दूकान के पीछे कहीं छिपे हैं। उन दो व्यक्तियों के शव इसी घर में पड़े हैं। जीप रुकी है। मैं दौड़ कर आगे वालों को बताता हूँ। जवाब मिला– कोई चिंता नहीं, अगर छिपे हैं तो थोड़ी देर में पकड़ लिये जायेंगे। (शाम को किसी ने भगोड़े अत्याचारी सिपाहियों की मनोवृत्ति बतायी कि वे भागते समय निहत्थों पर जुल्म करते हैं, लेकिन बाद में उनका अत्याचार उनके मन को खुद इतना भयभीत करता है कि वे इंतजार करते हैं कि कब कोई उनसे हथियार रखवा कर उन्हें राहत दे।) अभी भी सड़कें सूनी हैं। इक्के-दुक्के लोग गलियों से झांक रहे हैं।

सहसा यह तय होता है कि सबसे पहले ब्रह्मपुत्र के उस घाट पर चला जाये, जहां से हम पर फायरिंग की जा रही थी और एकदम से वह घटना हमारे दिमागों में घूम जाती है। उसी दिन यहां सब जगह पाकिस्ताी सैनिक सक्रिय रहे होंगे। शायद इसी सड़क पर से उस जीप पर लादकर रिकॉयललेस गन ले जायी गयी होगी। हाँ, यहीं से दायें मुड़कर वह घाट आता है। यह रहा बिजलीघर और यह है बिजलीघर के बगलवाली ऊंची लाल इमारत, जिसे हमने दूरबीन से साफ देखा था और यहां से इमारतों का सिलसिला खत्म और अब यह सड़क नीचे ब्रह्मपुत्र के किनारे उतर रही है।

अरे यही सड़क तो देखी थी हमने उस पार से। हाँ वह देखिए, घाट पर वह सिविलियन बस भी पंक्चर हुई खड़ी है, जिसके पीछे जीप को बैक करके वे लाये थे और फायरिंग शुरू की थी। हम ब्रह्मपुत्र के घाट पर जाते

हैं। कुछ नावें खड़ी हैं। मैं सोचता हूँ, यही ब्रह्मपुत्र हमारी विजय का जलद्वार है। कितना खतरा झेला है, हमारी सेनाओं ने इसी जल पर सेतु बंधन के लिए। मैं नीचे बालू पर उतर कर किनारे जा कर थोड़ा सा पानी हाथ में ले कर मुंह पर छींटे देता हूँ। कुछ छींटे सर पर। कृतज्ञता व्यक्त कर रहा हूँ या गंगा तटवासी होने के नाते आदत है, कह नहीं सकता। इतना जानता हूँ कि उस वक्त मन ही मन आशीर्वाद मांग रहा हूँ कि जैसे आज यह शांति, सचाई और स्वतंत्रता की विजय की नदी यहां है- जमालपुर में वैसी ही अपने उद्‌गम हिमालय से (गंगा से संयुक्त होकर) समुद्र पर्यंत बनी रहे, भविष्य में भी।

अब हम सब ब्रह्मपुत्र तट पर फायरिंग के प्वाइंट से खड़े होकर उस किनारे का वह स्थल देख रहे हैं, जहां हमने आश्रय लिया था। साफ, बिना दूरबीन के दीख रहा है सब। वह कांक्रीट की टूटी-जेटी, खेतों के पार का वह गांव। कितना साफ देख रहा होगा दुश्मन हमें। उस दिन का बचना चमत्कार ही था।

कहीं से गोलियों की आवाज आती है और फिर शोर। हम चौकन्ने होते हैं। शोर धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है और निकट आ रहा है। सड़क पर दूर कुछ भागते हुए लोगों की झलक। और फिर ध्यान से देखा, लोग भागते हुए इधर आ रहे हैं अरे यह तो बांगला देश का ध्वज है। वे जय बांगला के नारे लगा रहे हैं। और अब आसपास के घरों की खिड़कियां खुलने लगी हैं। पीछे-पीछे दो-तीन युवक उछल-उछल कर बांगला में घोषित कर रहे हैं कि

पाकिस्तानियों ने आत्मसमर्पण कर दिया। जमालपुर स्वाधीन है, जय बांगला। घरों के दरवाजे भी खुलने लगे हैं और लोग निकल-निकल कर जुलूस में शामिल हो रहे हैं। वे दौड़ते हुए आते हैं और बिग्रेडियर को बधाइयां देते हैं। मूर्च्छित जमालपुर सहसा जाग उठता है।

हम ब्रह्मपुत्र तट से लौटते हैं। अब सड़कों पर लोग निकल आये हैं। देखते-देखते कुछ चाय की दूकानों के तख्ते हट गये हैं और अंगीठी में कोयले सुलगाये जाने लगे हैं। हमें अजीब कुतूहल है कि पकड़े गये पाकिस्तानियों में से उन से मिलें, जिन्होंने उस दिन हम पर फायरिंग की थी। रास्ते में पाकिस्तानी सिपाहियों की टुकड़ियां सफेद झंडे लेकर दोनों हाथ उठाते निरस्त्र हमारे सैनिकों के पहरे में पी.टी. इंस्टीट्यूट की ओर जा रही हैं। वहीं जनरल नागरा पूरी सैनिक विधि से समर्पण स्वीकार करेंगे। इंस्टीट्यूट में ही पाकिस्तानियों का सैनिक हेडक्वार्टर था। अफसरों का विलास कक्ष भी।

छोटी सी, दोतल्लों की। खूबसूरत इमारत, लेकिन आसपास बहुत बड़ा अहाता। उसी में बैरकें बनी हुई हैं। और यहां विध्वंस का पूरा दृश्य है। न केवल चहारदीवारी जगह-जगह से टूट गयी है, वरन गेट के पास हमारी बांबिंग से बहुत बड़ा क्रेटर बन गया है और मनों मिट्टी उछल कर चारों ओर टीले की तरह जम गयी है। इमारत की एक-एक खिड़की, दरवाजा चूर-चूर हुआ पड़ा है, यहां तक कि अंदर के सोफे, पलंग और आईने भी टुकड़े टुकड़े हो गये हैं। बैरकों में कई जगह छत टूट गयी है। और अब हमें खयाल आता

है कि पूरा शहर हम घूम आये। किसी सिविलयन इमारत पर खरोंच तक नहीं है। एक-एक दिन में इतनी बार बम बरसाने पर भी हमारे बहादुर बमवर्षकों का निशाना इतना अचूक था कि सिवा उस मिलिटरी हेडक्वार्टर के कहीं धब्बा भी नहीं था। इस इमारत के अहाते में न आ कर पूरा शहर घूम आइए, आपको मालूम ही नहीं होगा कि यहां बमवर्षा हो चुकी है।

हेडक्वार्टर की इमारत का दृश्य अजीब था। चूर-चूर शीशा, फर्नीचर के टुकड़े, उखड़ा पलस्तर, दीवारों का मलबा-नीचे बरामदे में, कमरे में, छज्जे पर, फर्श के एक-एक इंच पर बिखरे हुए हैं। एक खूबसूरत लाल कालीन आधा लपेटा हुआ पड़ा है। कुर्सियों का बेंत कट गया है, गद्दे उधड़ गये हैं, ढांचे पड़े हैं। एक कमरे में कोने की मेज पर फौजी फाइलें तितर-बितर पड़ी हैं, एक खुला हुआ पेन नीचे गिर गया है। आल्मारियों के दरवाजे, अटेचियों के ढक्कन खुले पड़े हैं। मानो हड़बड़ी में भागते हुए ज्यों का त्यों छूट गया है। छज्जे पर एक बांस में बंधी हुई एक फटी सफेद चादर झंडे की तरह लहरा रही है।

नीचे बरामदे के फर्श पर, सीढ़ियों पर, कच्ची जमीन पर, कंबलों पर, पाकिस्तानी घायल पड़े हैं और उन्हीं की बगल में घायल बंगाली, कैप्टन (डॉ.) त्रिपाठी अपने सहकारियों के साथ मौजूद हैं। इस वक्त उनके हाथ में दवा का बक्सा और कंधे पर राइफल है। वे दौड़-दौड़ कर जख्म साफ कर रहे हैं, पट्टी बांध रहे हैं, पाकिस्तानी घायलों के भी और बंगाली सिविलियनों के भी। एक पाकिस्तानी घायल उठा कर लाया जाता है। एक दुकान के तख्ते

के नीचे पड़ा था। कैप्टन त्रिपाठी दौड़ कर उसकी जांच करते हैं। पास खड़ा एक सहायक उनको दवाएं और पट्टियां देता है, फिर एक गहरी सांस लेकर कहता है- ये सब धरम उनको नहीं आता। जानते हैं साहब, सुबह हमारे दो जवान मरे नहीं थे, घायल हो गये थे। पाकिस्तानी भागते-भागते रुके। उन दोनों को संगीनें भोंक-भोंक कर मार डाला। अब देखिए, कैसे मुसट्टी मार कर बैठे हैं।

मैं देखता हूं धूप में जमीन पर सैकड़ों की तादाद में वे बैठे थे। वे, जिन्होंने गांव जलाये थे, बलात्कार किये थे, इसी इंस्टीट्यूट में हत्याएं की थीं। कुछ सर झुकाये थे, कुछ कुतूहल से हमारी ओर देख रहे थे, कुछ डरे हुए से उन बंगाली नागरिकों की ओर, जो अब घर से निकल आये थे और चहारदीवारी के पास इकट्ठे हो रहे थे। उनका अफसर यहां था एक लंबा, दुबला, कम उम्र लेफ्टिनेंट जैदी। आत्मसमर्पण की रस्म शुरू हुई। वे सब खड़े हो गये।

जैदी अभी भी काफी धृष्टता और अशिष्टता से घूम रहा था। जनरल नागरा ने उससे कुछ पूछा, उसने मुंह फेर कर अपने किसी सिपाही से बात करनी शुरू की। मैंने पहली बार जनरल के सौम्य चेहरे पर गुस्सा देखा- मैं तुमसे बात कर रहा हूं। तुम्हें सीनियरों के सामने खड़ा होना नहीं आता? अटेंशन खड़े हो। जैदी घूम कर अटेंशन खड़ा हो गया, लेकिन अविनय का भाव ज्यों का त्यों। हमारी सेना के सीनियर आफीसर लेफ्टि. कर्नल के.एस. ब्रार ने जनरल नागरा को सैल्यूट किया और निवेदन किया कि 31 बलूच रेजिमेंट ने

युद्ध में हमसे शिकस्त पायी है और वे सैनिक और अफसर सब आत्मसमर्पण करना चाहते हैं। जनरल नागरा ने स्वीकार किया। उनके हथियार उतरवाये और अपने संक्षिप्त भाषण में उन्हें आश्वासन दिया कि यदि वे अनुशासन मानेंगे तो उनके साथ अच्छा व्यवहार किया जायेगा। जेनेवा कन्वेंशन के अनुसार। किन्तु यदि वे कोई शरारत करेंगे, तो भारतीय सेना को कड़ाई का व्यवहार भी आता है। भारतीय सेना उनके घायलों की चिकित्सा का इंतजाम कर रही है और उनके आराम का खयाल रखेगी। उन्होंने हथियार रख दिए हैं और हथियारहीन दुश्मन से हम दुश्मन का-सा व्यवहार नहीं करते। उनको खाने-रहने की कोई तकलीफ नहीं होगी।

कैदियों में अजब-अजब मूर्तियां थीं। बड़ी मूछोंवाले, ढीले सलवार पहने अजीब कठोर चेहरे, लेकिन एक बहुत मोटे कैदी महोदय इस आश्वासन, खासतौर से खाने-वाले आश्वासन पर इतने पुलकित हुए कि ताली बजाने लगे। जैदी ने डांटा नो क्लैपिंग, तो इतने सहम गये कि ताली बजाने की मुद्रा में ही हाथ जहां के तहां जम गये। थोड़ी देर बाद एक दूसरा अफसर, जो भाग गया था, गिरफ्तार कर के लाया जाता है। अधेड़ पख्तून, मेजर फज्ले अकबर। जैदी की अपेक्षा अकबर ज्यादा अनुशासित लगता है। वह विभाजन पूर्व देहरादून की मिलिटरी एकेडेमी का पढ़ा हुआ है। भारतीय सेना के जो अफसर देहरादून एकेडेमी के हैं, उनसे स्कूली दिनों की बात करता है। जैदी के व्यवहार के बारे में एक टिप्पणी यह है कि पाकिस्तान की विभाजनोत्तर पीढ़ी को भारत के प्रति घृणा पर ही पाला गया है, अतः उनमें भयानक

असहिष्णुता है। अपने प्रति किये गये सहज मानवीय व्यवहार को वे सही परिप्रेक्ष्य में नहीं समझ पाते। अकबर का व्यवहार अपेक्षाकृत बेहतर लगता है, लेकिन उसका भी असली रूप दूसरे दिन पता लगता है, जब पहरेदारों से बच कर वह शेरपुर में जिस इमारत में रखा गया है, उससे आधी रात में कूद कर भागने की कोशिश करता है और अंधेरे में बहुत नीचे गिरता है, जिससे उसके पांव और रीढ़ की हड्डी में मोच आ जाती है। सो उसकी भी सारी मीठी बातें सिर्फ दिखावा थीं।

कुछ सुबह से अप्रत्याशित दृश्यों के बीच से गुजरने का बोझ, कुछ सुबह से सिर्फ एक प्याला चाय, कुछ खड़े-खड़े अब हम काफी थकान महसूस करने लगे हैं। लेकिन बैठें कहां? उसी ध्वस्त इमारत के एक कमरे में टूटे शीशे और मलबे के ढेर के बीच एक कोने में दो सोफे खींच कर लाते हैं, कुछ अधटूटी कुर्सियां, और उन पर बैठकर राहत की सांस लेते हैं। जैदी भी उधर लाया जाता है और हमारे पास बैठा दिया जाता है। अब पराजय और आत्मसमर्पण का यथार्थ जैसे वह समझ रहा है। हम उससे बातें करने लगते हैं। मालूम होता है कि वह लाहौर का है।

हमारा एक अफसर उससे पूछता है कि ब्रिगेडियर क्लेर ने संदेश भेजा था कि व्यर्थ खून बहाने से क्या लाभ, चिट्ठी भी भिजवायी थी, फिर उनके कमांडर ने व्यर्थ इतना खून खराबा क्यों किया? वह बताता है कि कमांडर को उम्मीद नहीं थी कि भारतीय सेना जमालपुर के इतने नजदीक आ कर पीछे चुपचाप बैठ गयी हैं। हाँ, आत्मसमर्पण करने के लिए जो चिट्ठी आयी थी,

उसे हमने जरूर मजाक में लिया। लेकिन सुलतान महमूद ने किसी को भी नहीं बताया था कि वे भागने का इंतजाम कर रहे हैं। उन्होंने अपनी सफेद स्टेशन बैगन में बहुत सा सामान चुपचाप भरवाया था। रात को साढ़े ग्यारह बजे अकस्मात हुक्म मिला कि जैसी हालत में हो, वैसी ही हालत में ट्रकों और जीपों पर लद जाओ। ज़ैदी बीमार था। उसको पहले से घायल पाक सिपाहियों के साथ रखा हुआ था। जाते समय उनको खबर भी नहीं दी गयी। न कोई आदेश। जिन टुकड़ियों से संपर्क नहीं हो पाया, उनको भी सुबह तक नहीं मालूम था कि वास्तविक हालत क्या है।

और अब फायरिंग की बात चलती है। तीन दिन पहले 8 तारीख को दिन में दस-साढ़े दस बजे उस किनारे पर हम लोगों पर फायरिंग किसने की थी ? जैदी पहले चुप रह जाता है, लेकिन फिर धीरे-धीरे विस्तार में बताता है कि उन्होंने जनरल को हेलिकॉप्टर से उतरते देखा था। यहां तक कि उनकी जीप पर लाल तिकोनी झंडी देखकर वे समझ गये थे कि यह जनरल की जीप है। हमारी गतिविधियों को एक आब्जर्वेशन पोस्ट से देखकर सुलतान महमूद को सारी रिपोर्ट दी जा रही थी। लेकिन फायरिंग एक कमउम्र कप्तान ने की। कौन था वह ? अब जैदी चुप हो जाता है। लेकिन थोड़ी देर में वह उस रिकॉयललेस गन और मोर्टार की पूरी तफसील बताता है, वह कितने इंच की थी, कहां से लायी गयी, मोर्टार कहां से छोड़े जा रहे थे।

हमें लगता है कि वह कबूल नहीं कर रहा (शायद भयवश)। उसे यह भी मालूम है कि वह रिकॉयललेस गन जमालपुर में ही कहीं जीप पर लदी

पड़ी है। थोड़ी देर बाद कोई आकर बताता है कि सड़क पर वह जीप पर लदी रिकॉयललेस पड़ी है। जीप के टायर फट गये हैं। उसे उठवा कर यहीं लाया जाएगा। पर सफेद झंडे को पीछे हटा कर आगे बांगला देश का ध्वज फहरा दिया गया है। मुक्तिवाहिनी के स्थानीय कैप्टन काजी जैनुल आबदीन झंडा फहराते हैं और मुक्तिवाहिनी के सैनिक कतार में खड़े हो कर आमार सोनार बांगला गा रहे हैं। अहाते में पाकिस्तानी युद्धबंदी कब्जे में किए अस्त्र-शस्त्र, टूटी दीवारों के मलबे, 31 बलूच रेजिमेंट के कागज-पत्तर बिखरे पड़े हैं। उन पर गूंजता हुआ आमार सोनार बांगला का स्वर कैसा लग रहा है। पाकिस्तानी युद्ध और अत्याचार की कितनी पीड़ा उसमें घुली हुई है और भारतीय सैनिकों की वीरतापूर्ण शहादत।

एक नाटा सा हंसमुख अधेड़ मुक्ति सैनिक, घुटनों तक लुंगी दोहरी लपेटे सर पर लोहे का जालीदार टोप लगाये आता है। 'हलो मुंशी' क्लेर पुकारते हैं। वह हंसता हुआ, आधा उछलता हुआ आता है। जनरल और क्लेर उससे बड़े स्नेह से हाथ मिलाते हैं और हंस-हंसकर बातें कर रहे हैं। कौन हैं ये मुंशी साहब इस कदर महत्वपूर्ण। मैं अपनी नोटबुक लेकर उनके पास जाता हूं, तो बड़े प्रेम से हाथ मिलाते हैं और बाकी कुछ और बताने के बजाय अपना पूरा पता, जिला गांव, डाकखाना सब लिखा देते हैं और पूरा नाम-मोहम्मद जहरुल हक और सुनिए साथ में मुंशी जरूर लिखिएगा। और उछलते हुए मेजर महेन्द्र से हाथ मिलाने चले जाते हैं।

बलवीर सिंह जीप ले कर वहां जा रहे हैं, जहां हमारा हेलिकॉप्टर खड़ा

है। 11 बजे गये हैं, यहां तो कुछ नहीं है। कम से कम शेरपुर में जा कर आप लोग कुछ खा पी तो लीजिए। हम वहां पहुंचते हैं। सड़क के इर्द-गिर्द अभी भी उसी दृश्य के अवशेष हैं। हेलिकॉप्टर तैयार है, पर वर्मा बताते हैं कि अभी तो घायलों को लाद कर शेरपुर ले जा रहे हैं। आधे घंटे में लौट कर आयेंगे तब दूसरी ट्रिप में ले जाएंगे।

यहां आते-आते गला बुरी तरह सूखने लगता है। अबू युसुफ दीखते हैं। हम उनसे पूछते हैं कि गांव में कहीं पानी पीने को मिल सकेगा? उसी दायीं ओर वाले गांव में भारतीय सेना की टुकड़ी ने छावनी डाली है, उनके पास पानी होगा। अब अबू युसुफ बताते हैं कि किस प्रकार तीन दिन तक मुक्तिवाहिनी तथा आसपास के गांव वाले छिपा कर इनको पानी और रसद पहुंचाते रहे। हम जाकर छांह में अपने सैनिकों के बीच बैठते हैं। पानी मांगने पर वे चाय बनावने का आदेश देते हैं और कुछ सूखी पूड़ियां, तीन दिन पहले की। भाजी खत्म है। रूखी पूड़ियां चाय के साथ क्या मजा देती हैं। उस पर एकाध पर अचार का मसाला लगा रह गया है, उनके जायके का तो जवाब नहीं।

हेलिकॉप्टर पर भारतीय सेना के घायल जवान लाद दिए गए हैं। उनके सांथी सैनिक उन्हें विदा देने हेलिकॉप्टर के इर्द-गिर्द जमा हैं। नारा लगता है बोलो छत्रपति शिवाजी महाराज की जय। अरे, यह हमारे महाराष्ट्र का नारा यहां कैसे। मालूम होता है कि हम जिस कंपनी में बैठे हैं, वह मराठा लाइट इंफैंट्री है, और जो आस-पास बैठे हैं, वे सभी पूना, सतारा, बंबई के

हैं। सचमुच यह आश्चर्य का दिन है। एक गहरा सुखद आश्चर्य और अपने महाराष्ट्र की पलटन ने यह लड़ाई जीती है। आसपास के लोग यह जान कर कि हम धर्मयुग के हैं, बेहद खातिर करते हैं- हम उनके घर के लोग हैं। अब वे सब काम छोड़कर जल्दी-जल्दी चिट्ठियां लिखते हैं कि हम बंबई लौट कर इन्हें पहुंचा दें। पूना, सतारा, नासिक की चिट्ठियाँ, तो डाक में छोड़ देंगे, लेकिन चेंबूर और सायन की चिट्ठियां तो खुद जा कर दें और लीजिए, कौन विश्वास करेगा कि बगल में बैठे सांवले चश्मा लगाये कैप्टन नंबियार मेरे ही मुहल्ले के हैं, बांद्रा पूर्व। अब तो बंबई की सुखद याद में हम खो गये हैं। ब्लैक आउट की चांदनी में बंबई कितना सुंदर लगता होगा।

थोड़ी देर में लेफ्टि. कर्नल के.एस. ब्रार आते हैं। चुस्त, अनुशासनप्रिय और अनुभवी। बिछे हुए पुआल पर हमारे साथ बैठ जाते हैं और युद्ध का विवरण हमें विस्तार में लिखवाते हैं-

5 दिसंबर को सुबह बख्शीगंज पर हमने कब्जा किया। उसके बाद मराठा लाइट इंफैंट्री (जंगी पल्टन) की फर्स्ट बटालियन आगे बढ़ी। उसके साथ माउंटेन बैटरी तथा 852 बैटरी (टोड) भी थी। सारी पल्टन मुख्य सड़क छोड़ कर गांवों और खेतों के रास्ते पैदल गयी, कहीं-कहीं बैलगाड़ी पर। 5 दिसंबर की आधी रात ब्रह्मपुत्र पार कर हम जमालपुर की पाक फौजों के पीछे आकर बैठ गये। हमारे दो उद्देश्य थे, एक तो शत्रु का संबंध ढाका और टंगाइल की शत्रु छावनियों से काट देना और दूसरे उस पर पीछे से

दबाव डालना।

घेरे के दिनों में 7 तारीख, 8 तारीख और 9 तारीख को शत्रु से दो बार झड़प हुई और उसे हमने काफी नुकसान पहुंचाया। वास्तव में हम इस तरह छिपे थे और गांवो के निवासी हमें इतना सहयोग दे रहे थे कि शत्रु को कभी अंदाज ही नहीं लग पाया कि हम संख्या में कितने ज्यादा हैं। वह समझता रहा कि सिर्फ छिटपुट कुछ टुकड़ियां हैं, जिन पर वह आसानी से काबू कर लेगा।

9 तारीख की रात को शत्रु की सैनिक टुकड़ियां कई दिशाओं से जमालपुर से आयीं और इस क्षेत्र में घूमती रहीं। उनका उद्देश्य था कि हम उन पर फायर करें, तो उन्हें हमारी पोजीशन का पता लग जाये। लेकिन हम चुपचाप रहे। एक दिन पहले हम चुपचाप जमालपुर के पास तक जा कर उनके बंकरों तक को देख आये थे।

तीन घंटे की चुप्पी के बाद शत्रु ने तीन दिशाओं से हम पर हमला बोल दिया। पूरब से, पश्चिम से और उत्तर से। हमले में वे चीनियों की ह्यूमन वेव टेकनीक का इस्तेमाल कर रहे थे। यानी लहर पर लहर, एक के बाद एक। हर लहर में 100 के करीब फौजी होते थे और एक के बाद एक पांच लहरों में उन्होंने चढ़ाई की। भारी आटोमैटिक फायर तो कर ही रहे थे, भारी मोर्टार तोपें भी उन्होंने लगा दी थीं, लेकिन हर आक्रमण का जब हमने जवाब दिया, तो उनको भारी नुकसान उठाना पड़ा। कभी कभी वे चिल्ला कर हमला करते थे। लेकिन दो बार चुपचाप सीधे बटालियन के एफ.डी.एल. में आ गये।

लेकिन हमारी बिल्कुल ठीक निशानेबाजी और दृढ़ निश्चय के आगे वे बेकाम सिद्ध हुए। हम अपनी - अपनी पोजीशन पर तब तक जमे रहे, जब तक हमने शत्रु के हमलों को नाकाम नहीं कर दिया।

उसका आखिरी हमला आज 11 दिसंबर को सुबह 4 बजे हुआ। इस एक्शन ने जीपों और ट्रकों पर चढ़कर हमारी मोर्चेबंदी को पार करना चाहा, लेकिन हमने उनको घेर लिया। उनके 60 अफसर और सिपाही उसी समय जिंदा पकड़ लिये। बाकी और 200 ने हथियार रख दिये।

आज के एक्शन में दुश्मन के 100 से अधिक लोग मारे गये। 40 सख्त घायल हुए और 350 के लगभग युद्धबंदी बनाये गये। इस समय पाकिस्तान की 31 बलूच रेजिमेंट का आज नाम निशान नहीं रहा। भारतीय सेना के 9 जवान शहीद हुए और 6 घायल, जिनमें एक अफसर भी है और एक जे.सी.।

'शस्त्रास्त्र जो पकड़े गये उनकी गिनती अभी हो रही है। मोटे तौर पर छह पाउंडर ऐंटी टैंक तोपें- आधी दर्जन, एक सौ छह मि. ऐंटी टैंक रिकॉयल लेस गनें-आठ, और एक सौ इक्कीस मि. मोर्टार तोपें- तीन, पकड़ी गयी हैं। राइफलों और गोला-बारूद और जीपों की तो गिनती करना कठिन है।'

लेफ्टि. कर्नल ने पूरा विवरण समाप्त भी नहीं किया था कि फिर नारा लगा छत्रपति शिवाजी महाराज की जय। और उसके साथ ही गांव वालों का जय बांगला। मालूम हुआ कि हमारी बहादुर जंगी पल्टन (मराठा लाइट इंफैंट्री) जीत के बाद ठहरना नहीं चाहती। वह अब ढाका के रास्ते में मधुपुर और टंगाइल की ओर रवाना होने को तैयार हैं। मधुपुर के बाद टंगाइल, टंगाइल के

बाद जयदेवपुर और फिर ढाका। तो आखिरकार ढाका के उत्तरी मोर्चे का रक्षा द्वार टूट ही गया।

हेलिकॉप्टर घायलों को शेरपुर पहुंचा कर वापस आ गया था और एमएम सिंह हमें बुलाने आ गये थे। लेकिन पहले हम ब्रिगेडियर क्लेर के पास जाते हैं। उनको व्यक्तिगत रूप से बधाई तो हमने अभी तक दी ही नहीं। सड़क पार सामने वाले बांस के एक झुरमुट में एक छोटी सी झोपड़ी में ब्रिगेडियर क्लेर का डेरा है। एक तख्त पर उनका बिस्तरा और बांस के सहारे टंगे हुए कपड़े। दो बाल्टियों में गरम पानी मंगवाया है और अब नहाने जा रहे हैं। हंस कर स्वागत करते हैं- 'मैंने साढ़े छह बजे ही वायरलैस पर कहलवाया था कि तुम लोगों को तुरंत भेजें। आज तुम्हारे लिए कुछ मसाला मिलेगा। उम्मीद है कि मैंने निराश नहीं किया तुम लोगों को। बट इट वाज ए टफ फाइट।'

और अब वे इस मुठभेड़ के कुछ दिलचस्प पहलू बताते हैं-

'रात एक बजे पहली गोली चली और मेरे ट्रांजिस्टर को भेदती निकल गयी। मैं तुरन्त उठा कि तब तक गोलियों की बौछार, अंधेरे में कुछ अंदाज नहीं और बांस की इस झोपड़ी में कोई बचाव नहीं। यह देखो मेरी जर्किन, इसमें से होकर पांच - छह गोलियां निकल गयीं, लेकिन बस ईश्वर की कृपा है कि मुझे एक भी नहीं लगी। हां, एक चीज और बच गयी। मेरी स्कॉच। ट्रांजिस्टर के पास ही रखी थी लेकिन ज्यों की त्यों बच गयी।'

फिर थोड़ा गंभीर होकर बताते हैं- 'दुश्मन के काफी लोग मारे गये। ये

सब बच सकते थे, लेकिन इनके अफसर ने इन्हें मरवा दिया। खुद भाग निकलने का कार्यक्रम बना रहा था और उन्हें खबर भी नहीं दी। मैंने पत्र भेजा कि आत्मसमर्पण कर दो, व्यर्थ में सैनिकों की जान गंवाने से क्या लाभ, तो उसने चुनौती भरी चिट्ठी भेजी और साथ में लिफाफे में रखकर एक बुलेट. वह चिट्ठी देखोगे?'

और वे लाकर वह चिट्ठी दिखाते हैं। अब मालूम होती है वह दिलचस्प घटना, कैसे चिट्ठी गयी और कौन जवाब लाया? तुम्हें याद है अभी वह मुंशी मिला था मुक्तिवाहिनी का। बड़ा पक्का है। जितना बहादुर है उतना ही मसखरा भी। और अब मुंशी साहब के कारनामे सुनिए - ब्रिगेडियर क्लेर की चिट्ठी जेब में रख कर उन्होंने अपने हाथ बंधवाये और जमालपुर के रेलवे क्रासिंग के पास जा कर लगे जोर-जोर से रोने-चीखने। हर सांस में मुक्तिवाहिनी को धारोधार गालियां - बंगाली-उर्दू दोनों भाषाओं में। पाकिस्तानी सैनिकों ने आ कर इन्हें पकड़ा, तो बताया कि मैं साइकिल पर आ रहा था। पीछे मेरी गठरी बंधी थी। सड़क के दोनों ओर से उछलकर मुक्तिवाहिनीवालों ने पकड़ लिया। मेरी गठरी छीन ली, साइकिल रख ली और मुश्कें बांध कर यह खत दे कर मुझे बंदूक से डरा-धमका कर यहां छोड़ गए। कहा कि इस चिट्ठी का जवाब लाओगे, तो साइकल वापस दे देंगे। मर गये साहब-गरीब आदमी हम। मुक्तिवाहिनी को शैतान ले जाए। उनकी बंदूकों में कीड़े पड़ें। सिपाहियों ने दो-एक घूंसे-लात आश्वासन के रूप में और दिये और इनकी आंख में पट्टी बांद कर लेफ्टि. कर्नल राजा सुलतान महमूद के पास ले गये। उसने

चिट्ठी पढ़ी, पहले संजीदा हुआ और फिर उसने दूसरे अफसरों को बुलाया और चिट्ठी पढ़-पढ़ कर फब्तियां कसता रहा। फिर इनका कुछ और लात-घूंसों से सत्कार हुआ और इनसे पूछा गया कि क्या तुम भी मुक्तिवाहिनी के हो, यहां और कौन-कौन हैं। मुंशी बार-बार सलाम बजा कर कमांडर राजा जनाब सुलातन महमूद बहादुर साहब की खिदमत में अपनी साइकिल वापस दिलाने की अर्जी पेश करते रहे।

अंत में उसने खत का जवाब लिखा, लिफाफे में एक बुलेट रख कर इनसे कहा- 'इंडियन कमांडर से कहना, लड़ाई के मैदान में मुलाकात होगी।' और इन्हें विदा के समय एक प्याला चाय और धक्के देकर बाहर कर दिया गया। आधे घंटे में उछलते हुए मुंशी राइफल से लैस अपने मुकाम पर प्रकट हो गए। क्लेर उसके नाटक की याद कर हंस पड़ते हैं।

हम उनसे विदा लेकर चलने लगते हैं तो क्लेर सहसा संजीदा हो आते हैं- 'तुम से एक बात कहूंगा, हम लोग तो सैनिक हैं, तुम्हारी हिम्मत की दाद देता हूं, लेकिन एक बात कहूंगा कि उस दिन ब्रह्मपुत्र पर की फायरिंग बहुत ही खतरनाक थी। एक बार किस्मत ने साथ दिया तुम्हारा। लेकिन जरूरी नहीं कि हर बार किस्मत साथ दे। आगे थोड़ा देखभाल कर, समझे।' इस वक्त योद्धा क्लेर की आंखों में एक गहरा स्नेह और ममता है।

यह चीज मैंने अपनी सेना के योद्धाओं में बार-बार देखी है। बंगालियों पर अत्याचारों की कथा सुनते हुए अपने अफसरों में, घायल शत्रु की मरहम-पट्टी करते हुए अपने सैनिक डाक्टरों में, उस छोटे बंगाली बच्चे को अपनी

गोद में लिए जनरल नागरा में- मनुष्य जीवन के लिए एक गहरा आदर। यह चीज जिस देश की सेना में है, वह बुनियादी तौर पर बड़ा देश है। उसे महानता तक पहुंचने के लिए दुनिया की कोई ताकत रोक नहीं सकती। उससे केवल घृणा कर के जो कौम पनपना चाहती है, वह आत्मघात का रास्ता अपनाती है, इस आत्मघात का परिणाम उसे भुगतना पड़ता है।

हेलिकॉप्टर तैयार है। लेकिन उसमें संगीन घायल भरे हुए हैं। फर्श पर, सीटों पर। हम उन्हीं के बीच में किसी तरह खड़े हो जाते हैं। ज्यादातर पाकिस्तानी घायल हैं। दो बंगाली सिविलियन। एक बंगाली अधेड़ किसान रह-रहकर कराह रहा है- अल्लाह! अल्लाह! उसे जिस पाकिस्तानी ने गोली मारी थी, क्या वह भी इन्हीं घायलों में है? युद्ध भी कैसे विचित्र संयोग पेश करता है।

हम शेरपुर पहुंच रहे हैं। ब्रह्मपुत्र कितनी शांत लग रही है। ओह, आज तो नावें चल रही हैं। किनारे पर मेला जैसा लग रहा है। मोर्चे पर फतह से हमारा मन भी हल्का हो आया है। तीन दिन से किस कदर चिंता थी। तिल के पीले फूल भरे खेत इस समय कितने उल्लास भरे लग रहे हैं, जैसे बसंत आ गया हो। वीरों का कैसा हो बसंत! शायद ऐसा ही।

सोनार बांगला अपने पूरे सुनहरे जादू के साथ जाड़े की धूप में खिला हुआ है, लेकिन इन खेतों की मिट्टी अनंत काल तक न भूल पायेगी कि इसमें बहादुर भारतीय सैनिक शहीदों का रक्त मिला हुआ है, वे जिन्होंने स्वतंत्रता, मानवता और बंधुत्व के मूल्यों की रक्षा के लिए अपनी जानें न्यौछावर कर दीं,

जिन्होंने शीतल हिम-इस्पाती मृत्यु झेली ताकि सोनार बांगला में बसंत आये और पीले फूल जाड़े की धूप में खिलें।'

उपरोक्त रिपोर्ताज जहाँ पाठक को सीधे युद्धभूमि में ले जाकर खड़ा कर देता है वहीं भारतीय सेना की उन सहज महानताओं से भी बखूबी परिचित कराता है जो हमारी सेना को दूसरी किसी भी सेना से बहुत बड़ा बना देती हैं- यह बड़प्पन मानवीय मूल्यों को आत्मसात करने से आता है। सचमुच जिस देश के पास ऐसी सेना है उसे कोई जीत नहीं सकता। इस रिपोर्ताज से भारती के जीवट और पत्रकारिता के प्रति उनके समर्पण का भी परिचय मिलता है। जो लोग केवल ग्लैमर से आकर्षित होकर पत्रकार बनते हैं उन्हें भारती से बहुत कुछ सीखना चाहिये।

साहित्यिक पत्रकारिता

डॉ. भारती की साहित्यिक पत्रकारिता पर विचार करने से पहले हिन्दी पत्रिकाओं में साहित्यिक पत्रकारिता की क्या स्थिति है, इसकी पड़ताल करना भी समीचीन होगा। किसी साहित्यक पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं की दो ही नियतियां होती हैं- वे या तो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित होती हैं या कालांतर में गुमनामी में चली जाती हैं। और यह भूलने की बात नहीं है कि पत्रिकाएं कितनी ही उत्कृष्ट क्यों न हों-उत्सर्जनीय होती हैं, पर किताब कितनी ही बुरी क्यों न हो, उत्सर्जनीय नहीं होती है।[1]

पुस्तकालय से अधिक इस बात को कोई नहीं जानता है कि व्यावहारिक

1. हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता : सुशील शर्मा, पृ. 162

रूप से किसी पुस्तक को नष्ट करना असंभव है। अतः साहित्यिक पत्रकार का यह एक बड़ा दायित्व है कि वह ऐसी रचना को प्रकाशित करे, जो पुस्तक रूप में आने की क्षमता रखती हो। क्या साहित्यिक पत्रिकाएं ऐसा करती हैं। क्या वे ऐसी कोशिश भी करती हैं ?

इस प्रश्न को दूसरे रूप में भी रखा जा सकता है। क्या साहित्यिक पत्रिकाएं अपने अस्तित्व का औचित्य सिद्ध कर रही हैं ? इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर है कि हम साहित्यिक पत्रिका से क्या अपेक्षा रखते हैं। वर्गीकरण की दृष्टि से साहित्यिक पत्रिकाएं दो तरह की होती हैं- संकीर्ण और व्यापक।[1] दोनों के अपने-अपने खतरे हैं। किसी भी साहित्यिक पत्रिका को एक छोटे से गुट के विचारों के प्रचार के लिए उपयोग नहीं किया जाना चाहिए। इससे वह पत्रिका साहित्य के वृहद परिदृश्य से कट जाती है। दूसरी ओर, उसे व्यापक तौर पर विविध भी नहीं होना चाहिए। विविधलक्षी पत्रिकाएं अपनी धार खो बैठती हैं। एक साहित्यिक पत्रिका का सही लक्ष्य अपने युग के तीक्ष्णतम संवेदनशील और प्रगतिशील विचारों को प्रसारित करना है। उसकी अपनी पहचान तो होनी चाहिए, पर यह पहचान बंद गली न बन जाय। हमारे समाज में साहित्यकार की भूमिका खतरे में पड़ गई है। अतएव, उसके लिए साहित्यकार मात्र रह जाना अब पर्याप्त नहीं है।[2] उसे साहित्य को पूंजीवादी हमले से बचाने के लिए असाहित्यिक भी बनना होगा। हिंदी की

1. हिन्दी पत्रकारिता - सिद्धान्त और प्रयोग : डॉ. प्रतीक मिश्र , पृ. 39

2. हिन्दी पत्रकारिता के सिद्धान्त : डॉ. आर.सी. त्रिपाठी, पृ. 164

साहित्यिक पत्रकारिता में पहल, वर्तमान साहित्य, समकालीन सृजन, वसुधा, आदि ऐसी पत्रकारिता के मानक उदाहरण हैं। अनेक साहित्यकारों ने संपादक के रूप में साहित्य के बाहर जाकर साहित्य की रक्षा की है। यह एक ऐसी समरनीति है, जिसकी जितनी भी प्रशंसा की जाए वह थोड़ी ही है।

साहित्यिक पत्रकारिता की समस्याएं किसी भी देश की सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याएं ही हैं। उन्हें इनसे विच्छिन्न करके नहीं देखा जा सकता है। इससे जुड़ा सीधा प्रश्न है- साहित्यिक पत्रकारिता क्यों? इसका उत्तर है-

(1) समकालीन सृजन को दिशा-बोध देना- उसकी गति को प्रोत्साहित करना।

(2) साहित्य की सेहत का मूल्यांकन करना और

(3) नयी रचनाशीलता को प्रोत्साहित करना।

स्पष्ट ही, इस समय साहित्यिक पत्रकारिता की तीन प्रवृत्तियां हैं। ये प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं, जिन्होंने रचनात्मकता और बहस को उत्कोचित किया है। ये प्रवृत्तियाँ हैं अकादमिक, व्यावसायिक और अतिवादी।[1] अकादमिक पत्रिकाएं विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों और हिन्दी अकादमियों द्वारा प्रकाशित हो रही हैं। इन पत्रिकाओं में पांडित्य, वैचारिकता और रचनात्मकता के संकुल दृष्टिगोचर होते हैं। विश्वविद्यालय के अध्यापकों को बेहतर और ऊँची कुर्सी प्राप्त करने के लिए कुछ प्रकाशित करना होता है। सच्चे कवियों की प्रतिष्ठा को देख कर उन्हें भी कवियाने की छूत लग जाती है। यह साहित्य में प्रधानमंत्री

1. हिन्दी पत्रकारिता के सिद्धान्त : डॉ. आर.सी. त्रिपाठी, पृ. 164

रोजगार योजना की तरह की चीज है। अधिकतर भारतीय विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग बंद गली के समान हैं, उनमें ताजा हवा नहीं आती है। ऐसे परिवेश में एक रचनाकार का विकास संभव नहीं है। इन पत्रिकाओं में कविता, कथा साहित्य या समीक्षा जो भी छपती है, वह असल में छद्म साहित्य है।

दूसरा वर्ग है विशुद्ध व्यावसायिक किन्तु स्तरीय साहित्यिक पत्रिकाओं का। ये पत्रिकाएं कहानियों, उपन्यासों और राजनीतिक रपटों के लिए बड़ी राशि लेखकों को देती हैं, धर्मयुग और साप्ताहिक हिन्दुस्तान ऐसी ही पत्रिकाएँ थीं। इसीलिए प्रतिष्ठित रचनाकार तो उनमें लिखते ही थे और नये रचनाकार भी उनमें छपने के लिए बेचैन रहते थे। (यह हिन्दी की विडम्बना है कि आज ऐसी एक भी पत्रिका नहीं नहीं है।)

सवाल है कि इसमें गलत क्या है? पहली नजर में गलत कुछ भी नहीं लगता है, लेकिन जब इतने रचनाकार इसमें रस लेते हैं और यह रोजमर्रे की बात हो जाती है, तब साहित्यिक परिवेश धीरे-धीरे हीनतर बनने लगता है और लेखन में गुणात्मक अंतर आने लगता है। परिवर्तन की यह प्रक्रिया बहुत संश्लिष्ट होती है और इसे स्पष्ट करना आसान भी नहीं है। पंकज बिष्ट ने अपने चर्चित उपन्यास 'लेकिन दरवाजा' में इस समस्या को उठाया है। ऐसे लेखन सनसनीखेज होते हैं। ऐसे लेखकों को छापा जाता है, जिनका लेखक गरम होता है और इससे रचनाशीलता का सहज विकास अवरुद्ध हो जाता है। ऐसी व्यावसायिक पत्रिकाओं में जायकेदार और धक्केमार रचनाएं ही छपती हैं।

ऐसे रचनाकार उस साहित्यिक परिवेश में कट जाते हैं, जहां उन्हें एक प्रबुद्ध पाठक वर्ग और रचनात्मक समालोचना का सहयोग मिलता है। इससे एक सांस्कृतिक दरार बनती है और धीरे-धीरे लेखकों के दो वर्ग तैयार हो जाते हैं- व्यावसायिक लेखक और साहित्यिक लेखक।

एक साहित्यिक पत्रिका से पहली अपेक्षा यह है कि यह बाह्य दबावों से संपूर्णत: मुक्त हो। ये दबाव सरकारी, प्रकाशकीय, व्यावसायिक, संस्थागत या न्यायसंगत भी हो सकते हैं। अभी ऐसी कोई पत्रिका नहीं है जो स्वतंत्र भी हो और संपन्न भी हो और कोई ऐसी संपन्न पत्रिका नहीं है जो दूसरे दर्जे की न हो। संपन्न साहित्यिक पत्रिकाओं के उदाहरण हैं- आजकल और समकालीन साहित्य आदि। संपन्न रहते हुए भी उत्तरशती में एक ही अच्छी पत्रिका निकली और वह है कल्पना। पर संपन्नता के समाप्त होते ही वह बंद हो गई।

तीसरा वर्ग है अतिवादी पत्रिकाओं का। किसी बेहतर शब्द से अभाव में इन्हें अतिवादी कहना पड़ रहा है। साहित्य में इसे 'यौन क्रांति 'कहा गया है। सातवें दशक में इन पत्रिकाओं की भरमार हो गई थी। इन पत्रिकाओं में ऐसी कहानियाँ और कविताएं छपती थीं, जिनमें देह के हर वर्तुल का विवरण, भाषा में संयोग के धक्के, हत्या में उत्सव और उल्लास, ड्रग के प्रति ललक और अन्य आनुषांगिक मुक्तियों के प्रवाह फूट रहे थे। बहुत साफ बात है कि इन पत्रिकाओं ने सेक्स को बिकाऊ माल बनाया और नये रचनाकार इस माल के उत्पादक बने। लेकिन हिन्दी साहित्य के सौभाग्य से आठवें दशक में इनका स्थान समाजोन्मुखता और प्रतिबद्धता ने ले लिया और यह छूत रोग अपनी

संक्रामकता खो बैठा।

इन साहित्यिक पत्रिकाओं का एक मोटा वर्गीकरण यहां अप्रासंगिक नहीं होगा। कुछ पत्रिकाएं कविता-प्रधान हैं, कुछ कहानी-प्रधान, कुछ आलोचना-प्रधान, कुछ विचार-प्रधान और कुछ हैं संपूर्ण पत्रिकाएं जैसे पूर्वग्रह, साक्षात्कार, पहल, वर्तमान साहित्य आदि। इन साहित्यिक पत्रिकाओं को बहुत दबाव में जीना पड़ रहा है। हम ऐसी व्यवस्था में जी रहे हैं, जिसमें साहित्य और कला भी वस्तु बन गये हैं। शेविंग क्रीम और ब्लेड की तरह साहित्य की भी दिशा उत्पादन के रूप में निर्धारित हो गयी है।

छोटी पत्रिकाओं के संपादक आर्थिक स्रोत को थोड़ा नियोजित करने के लिए लेखक केंद्रित विशेषांकों को यदि पुस्तकाकार प्रकाशित कर देते हैं तो इस शिकवा और शिकायत को द्वेषपूर्ण नहीं तो अविचारित तो माना ही जाएगा।[1] साहित्यिक पत्रिकाओं को बचाने के लिए और भी ऐसी तरकीब निकालनी पड़ सकती है। व्यवस्था को मत भूलिए और न भूलिए इस व्यवस्था में रचे गए मनुष्य को। लोग है जो सिनेमाघरों में प्रवेश करने के लिए धक्के खाते हुए भी बड़े उत्साह से मनोरंजन टैक्स देते हैं और होटलों में दावत उड़ाने के लिए सेल्स टैक्स के पैसे देने में उनकी जेब खुली रहती है। ऐसे लोग ही हमारे पाठक हैं और वे साहित्यिक पत्रिकाओं का एक अंक खरीदना भी फिजूलखर्ची मानते हैं।

व्यावसायिक पत्र विज्ञापनों के आधार पर चलते हैं। ये विज्ञापन पत्रों के

1. चौथी दुनिया 16 से 22 जुलाई, 1989 के अंक में डॉ. शंभूनाथ सिंह का निबंध

प्रकाशन और प्रसारण के मुख्य आधार है। इनसे जुड़ी व्यावसायिक पत्रिकाएं भी इन्हीं आधारों पर चलती हैं। अब इन पत्रिकाओं का सामना मासिक या द्वैमासिक पत्र नहीं कर सकते। इन समाचार-पत्रों और व्यावसायिक पत्रिकाओं में रोजगार के बड़े अवसर निहित हैं। साहित्यिक पत्रिकाएं, जो मासिक, द्वैमासिक या अनियतकालीन होती हैं, यह सुविधा किसी को नहीं दे सकती हैं। यह तकलीफ साहित्य की नहीं वरन् जीवन की है और इस व्यथा-भोग को गहराई से समझने की जरूरत है।

साहित्यिक पत्रिकाएं न तो रोजगार हैं और न व्यवसाय। यह है तपस्या, जब सारा देश मुर्दों का टीला बन गया है। तब इन पत्रिकाओं से जो जिजीविषा उमड़ती है उससे कंकाल सुगबुगाने लगते हैं। ये पत्रिकाएं एक प्रकार का संवाद है। इस देश में काफी हाउस का स्थानापन्न ये छोटी पत्रिकाएं ही हैं। इन पत्रिकाओं की एक प्रमुख समस्या है मात्रा बनाम गुणात्मकता की। हम पर उत्पानद का दबाव ज्यादा है, पर रचना के लिए प्रेरणा बहुत अल्प है। रचना कम हो रही हैं, उत्पादन अधिक हो रहे हैं। उत्पादन का रोग हमारे साहित्य में संक्रामक होकर फैल गया है और संस्थाओं से निकलनेवाली पत्रिकाएं इस रोग से पूरी तरह आक्रांत है। संस्थाएं अंततः रचनाशीलता का गला घोंट देती हैं-चाहे ये समाचार प्रतिष्ठान हों या विश्वविद्यालय हों या न्यास हो या सरकार हो। ये कहीं न कहीं बंधन गढ़ते हैं। ये रेशमी डोर से साहित्य और कला का गला घोंटते हैं। ये सरकारी अनुदान स्वाधीनता की सीमा निर्धारित करते हैं और सीमित स्वाधीनता कोई स्वाधीनता नहीं होती है। साहित्य के

प्रतिमानों के गढ़ने और ध्वस्त करने का एकमात्र दायित्व साहित्यकार का है।

भारतेंदु-युग, द्विवेदी-युग, छायावाद-युग के संपादकों को व्यावसायिक प्रेस, न्यास या सरकार से कुछ भी अपेक्षा नहीं रहती थी। वे इन संस्थाओं की सहायता के बिना ही पत्र निकालते थे। प्रेमचंद का हंस एक उदाहरण है और भी गिनाए जा सकते हैं। उस समय के लेखन के उत्कर्ष का संबंध इस स्वाधीनता से हैं। रचनाशीलता स्वाधीनता ही है।

महान पत्रकारिता एक प्रकार की रचना है और महान संपादक की पहचान इस बात में निहित है कि वह कितनी प्रतिभाओं की तलाश कर सका और उन्हें परिपक्वता तक ले जा सका। इस कसौटी पर बेहिचक यह कहा जा सकता है कि हिन्दी में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के बाद केवल भारती अकेले ऐसे सम्पादक हैं जिन्होंने हिन्दी जगत को अनेक अनमोल प्रतिभाओं से परिचित कराया। यद्यपि उन पर आरोप भी कम नहीं लगे। धर्मयुग अपने समय की ऐसी पत्रिका थी जिसमें छपना किसी रचनाकार के लिए गौरव की बात थी, किन्तु इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि जिस रचनाकार को छपने का अवसर नहीं मिला वही भारती पर संकीर्णतावादी और पक्षपाती होने का आरोप लगाने लगा।

धर्मयुग विशुद्ध साहित्यिक पत्रिका नहीं थी। व्यावसायिकता के जो दबाव होते हैं, वे सभी दबाव भारती पर भी थे, परन्तु इन दबावों के बीच में उन्होंने जो रास्ता बनाया उस पर चलकर 27 वर्षों में अनगिनत साहित्यकार न केवल उदित हुए, बल्कि दैदीप्यमान भी हुए। यही भारती की साहित्यिक पत्रकारिता

की सफलता है। जहाँ तक उनके स्वयं के लेखन का सवाल है, वह तो सदैव अद्वितीय रहता ही था। यहाँ धर्मयुग में 'शब्दिता' स्तम्भ के अन्तर्गत 'दीप मेरे जल अकंपित' शीर्षक से प्रकाशित उनका एक ललित निबन्ध प्रस्तुत है:-

दीप मेरे जल अकंपित [1]

बड़ी उधेड़बुन में पड़ा रहा कई दिन। समस्या आप सुनेंगे तो हंसेंगे। मगर क्या करूं साहब, मन में फांस बैठ गयी तो बैठ ही गयी। मेरी एक छोटी सी वैचारिक तलाश थी। वह यह कि क्या कोई ऐसा तरीका हो सकता है कि जिस दुश्मन को सजा दूं तो ऐसी दूं कि उसकी रातों की नींद हराम हो जाये पर ऊपर से ऐसा लगे कि मैं उसका आदर-सत्कार कर रहा हूं। उस पर प्यार बरसा रहा हूं। कोई रास्ता ही समझ में न आवे। सोचता रहा, सोचता रहा। फिर साहब, कहते हैं कि 'जिन खोजा तिन पाइयां' तो सहसा एक दिन रास्ता सूझ ही गया। मैंने सोचा है कि इस बार किसी से रंजिश हुई तो जरा भी जाहिर नहीं होने दूंगा। उसे खत लिखूंगा कि आपसे मिलने को जी तरसता रहता है। आप बंबई आइये, तीन-चार दिन मेरे पास ठहरिये।

और बुलाऊंगा उसको दीवाली के चार-छह दिन पहले। कैसी संजी-संवरी होती है बंबई उन दिनों! धूमधाम, नियोन लाइटें, जूड़े में लटके गजरे, और गेंदे की मालाओं से सजी दूकानें। जाहिर है कि मेहमान खुश हो जायेगा। आराम से खा-पी कर बंबई के गुन गाते हुए सोने जायेगा। मगर जब रात के दो बजेंगे तो सहसा एक खौफनाक धमाका होगा। मानो किसी ने सीधे आपकी

1. धर्मयुग (दीपावली विशेषांक 1989), पृ. 23

ओर निशाना तान कर बोफोर्स तोप दाग दी हो। मेहमान घबरा का उठ बैठेगा। चेहरे पर घबराहट और माथे पर पसीना। वह मुझसे कांपते स्वर में पूछेगा- 'यह क्या हुआ?' मैं बहुत शांत स्वर में जवाब दूंगा - 'कुछ नहीं है, बच्चे हैं, फटाकड़ा छुड़ा रहे हैं।' वह पूछेगा 'इस वक्त, यह कौन सा समय है?' मैं अन्दर ही अन्दर प्रसन्न होता हुआ ऊपर से बच्चों पर नाराजगी दिखाता हुआ कहूंगा - 'अरे, बंबई में तो यही फटाकड़ा छुड़ाने का समय है। बच्चे अब शुरू करेंगे और सुबह पांच-छह बजे तक यही चलेगा।'

मेहमान लेट कर मुश्किल से आँख करेगा कि धड़-धड़-धड़, फिर एक लम्बे सिलसिले में विस्फोट शुरू हो जायेंगे। मेहमान को लगेगा कि कहीं बारूद के कारखाने में आग लग गई है। चीनी राइफल ए.के. 47 लेकर पाक प्रशिक्षित घुसपैठियों ने धावा बोल दिया है। वह दरवाजा खोलकर घबरा कर इधर-उधर देखेगा। मैं बहुत शांत स्वर में बताऊंगा-'यह कुछ नहीं है। बच्चे लड़ लाये हैं। लड़ छुड़ा रहे हैं।' लड़ फटाकड़ों की एक लम्बी माला होती है, दोहरी बनावट की। उसे सड़क पर लम्बा बिछा दिया जाता है और एक सिरे पर मोमबत्ती छुला दी जाती है। फिर एक के बाद एक सैंकड़ो विस्फोट लगातार होते चले जाते हैं मानो दर्जनों मशीनगनें एक साथ गरज उठी हों, और लड़ें भी छोटी नहीं होती। 20 की लड़, 50 की लड़, 100 की लड़, 200 की लड़ से लेकर हजार तक की लड़ होती है। और अदाबदी इस तरह चलती है कि जब तक 50 की लड़ खत्म हो तब तक सामने वाला 200 की लड़ लगा देता है, नौबत हजार की लड़ तक पहुंचती है। कभी गिनती छोड़ कर दूरी

नापी जाती है यानी इतनी लड़ें एक के बाद एक कि लंबाई में पूरी गली या सड़क के पूरे हिस्से में बिछा दी जायें। कभी-कभी तो पन्द्रह-बीस मिनट तक यह दिल दहला देने वाला, कान के पर्दे फाड़ देने वाला शोर चलता रहता है, वह भी रात के दो-तीन बजे। किसी तरह पांच बजे सुबह आँख लगी तो फिर कोई फटाका प्रेमी वह धमाका कर देता है जिसे यहाँ की भाषा में 'एटम बम' कहा जाता है। और यह कोई दीवाली पर ही नहीं होता। दीवाली के चार-पांच दिनों पहले से शुरू हो जाता है धूमधड़ाका और और दीवाली के दो-तीन दिन बाद तक चलता है। कैसी तकलीफदेह होती है ये छह-सात रातें!

पर सुनते हैं, यह केवल बंबई का हाल नहीं है। कमोवेश हर बड़े शहर में यह होने लगा है। दीपकों वाली दीवाली गायब होती जा रही है, फटाकड़ों वाली दीवाली हावी होती जा रही है।

ऐसा हुआ क्यों? दीवाली के साथ पटाखे पहले भी चलते थे पर वे धमाके वाले कम होते थे, रंग-बिरंगी रोशनी वाले ज्यादा होते थे। रोशनी को फुहारों की तरह बिखराने वाले अनार, रोशनी के फूल जिनसे झरते थे ऐसी फुलझड़ियां, रोशनी के साथ सीटी बजाने वाले आकासबान, नीली लौ वाले नासपाल। पर ये सब गौण थे। दीवाली का असली हीरो तो कस्बे के कुम्हार द्वारा बनाया हुआ मिट्टी का दिया ही था।

एक सप्ताह पहले से हाट-बाजार में छोटे-बड़े दियों की ढेरियां लग जाती थीं। सैंकड़े के हिसाब से खरीदे जाते थे। उनके साथ खरीदी जाती थी रूई। एक दिन पहले से माँ की बुढ़ाती हथेलियां रूई की बत्ती बटना शुरू कर

देती थीं। चाची बाल्टी भर-भर कर पानी लाती थीं। पहले दिये धोये जाते थे, फिर पानी में भिगो दिये जाते थे। एक-दो दिन पानी में भीगते थे और धनतेरस के दिन से भीगते दियों की सोंधी मिट्टी की गंध आंगन में छाने लगती थी। दिये इसलिए भिगोये जाते थे कि भरपेट पानी पी लें ताकि तेल ज्यादा न सोखें।

दीवार पर लक्ष्मी-गणेश बना कर सबसे पहले दिया रखा जाता था। चाची दिये भिगोती थीं, माँ रूई की बत्तियां बटती थीं। पर दिये में तेल डाल कर बत्ती की लौ सबसे पहले जलाती थीं भाभी। गृहलक्ष्मी जो ठहरीं! पहले दिये की कांपती लौ में उनकी नाक की नाथ ऐसे चमकती थी कि बस क्या बतायें! फिर मिट्टी के रंग-बिरंगे खिलौने होते थे, खांड़ के हाथी, घोड़े, मोर होते थे। खील, लाई, चिवड़ा और बताशे होते थे, फिर सबके पांव में महावर लगाने वाली नाइन बुआ होती थी, बरेठिन मासी होती थीं। सब अपना-अपना नेग और खील-बतासे लेने आती थीं। आशीष देते हुए जाती थीं। कितने स्नेह संबंधों से जुड़ता था वह मिट्टी का दिया और उसका कांपाता उजाला जाने कितने शब्द बोलता था, कौन-कौन सी बातें कहता था जिसे कविगण दोहराते थे। महादेवी जी लिखती थीं- *धूप सा तन, दीप सी मैं*। बच्चन जी लिखते थे- *है अंधेरी रात पर दीवा जलाना कब मना है?* और तब तरुण नरेन्द्र शर्मा लिखते थे -

तुम दुबली पतली दीपक की लौ-सी सुन्दर

मैं अंधकार

मैं दुर्निवार

मैं तुम्हें समेटे हूं सौ सौ बांहों में मेरी ज्योति प्रखर।

यानी वह मिट्टी के दियों की दीवाली कवि मन में बिंब जगाती, मन को मन से जोड़ती थी, सौन्दर्य बोध की एक भाषा बनती थी –

और अब ?

अब सिर्फ फटाकड़े छूटते हैं, ऐसी विस्फोटक ध्वनि जोड़ती नहीं – राहगीर को दूर भगाती है। दूसरों को सुख नहीं देती। धमाके से आधी रात का सरदर्द देती है, बुनियादी फर्क जानते हैं, क्या है ?

दीपक के उजाले में एक-दूसरे को देखते थे, फटाकड़े छोड़ने वाले सिर्फ यह कहते हैं कि 'यह देखो, यह हम हैं!' आधी रात को दूसरों का कान फाड़कर घोषणा करते हैं कि 'यह देखो, यह हम हैं ! तुम पचास लड़ वाले हो, हम हजार लड़ वाले हैं।'

यह बदलाव आया कैसे ? द्वितीय महायुद्ध के बाद से बेईमानी की कमाई वाला एक नौ रईस तबका पनपने लगा, जो आजादी के बाद और पनपा। काला धन इतना था कि उसे कैसे फूंका जाये, यही नहीं समझ में आता था। उसके पास न सौन्दर्य बोध था, न संस्कार। एक समृद्ध संस्कृति में दीपक भी बोलते हैं, भाषा गढ़ते हैं, स्नेह का शब्द-सेतु बुनते हैं। पर धन से समृद्ध और संस्कारों से खाली संस्कृति शब्दों को तोड़ती है, भाषा को निरर्थक बना कर सिर्फ आत्म प्रदर्शन के लिए धमाके करती है।

चिंता तब होती है जब यह धमाके की फटाकड़ा संस्कृति चिंतन-लेखन

के दूसरे आयामों को प्रभावित करने लगती है। राजनीति की धमाकेदार घोषणाएँ, कला में आधुनिकता के नाम पर रेखाओं, रंगों का धमाका, साहित्य-समीक्षा में समीक्षा के बजाय धमाकेदार फतवे, पत्रकारिता में जन शिक्षण और संतुलित संवाद के बजाय धमाकेदार स्कूप, विज्ञापनों की दुनिया में धमाका ही धमाका! फटाकड़ा संस्कृति के इस धमाकेदार विस्तार को सार्थक संवाद में परिष्कृत न किया गया तो कुछ दशकों बाद हमारी संस्कृति को एक नये खोखलेपन का संकट झेलना पड़ सकता है। पर हमारी जड़ें इतनी गहरी हैं कि हम मूल्यों, सार्थक शब्दों के स्नेहमय उजाले की ओर फिर लौटेंगे, इसका मुझे विश्वास है। बच्चन जी ने लिख है न -

'है अंधेरी रात पर दीवा जलाना कब मना है।'

संस्मरण

साहित्यिक पत्रकारिता की एक विधा संस्मरण लेखन भी है। भारती जी के पास तो संस्मरणों की अकूत निधि थी, पर उन्होंने बेमौसम बरसात की तरह जब-तब संस्मरण नहीं लिखे। संस्मरण लेखक प्रायः विषय से भटककर अपनी महत्ता प्रतिपादित करने के आंकाक्षी हो उठते हैं। भारती के संस्मरणों में यह दोष रंचमात्र भी नहीं है। कई संस्मरण तो ऐसे हैं जिनमें लेखक प्रत्यक्षतः कहीं उपस्थित ही नहीं हैं। कुछ समालोचक इन्हें संस्मरण नहीं मानते, किन्तु स्वयं भारती का मानना है कि यही तो सच्चे संस्मरण हैं। स्व. माखनलाल चतुर्वेदी के जन्म शताब्दी वर्ष में धर्मयुग के 9 अप्रैल 1989 के अंक में प्रकाशित ऐसा ही एक संस्मरण दृष्टव्य है:-

यह चरण ध्वनि धीमे-धीमे [1]

दादा का सौंवा जन्म दिवस। शतवार्षिकी के चर्चे। गोष्ठियों, समारोहों की धूमधाम। लेकिन क्या हमने यह पहचानने की कोई सार्थक पहल की कि सौ वर्ष पहले पैदा हुए हिन्दी साहित्य के इस विलक्षण शलाका पुरुष के अनूठे काव्य सृजन का मूल उत्स क्या है ? वह क्या है उनकी कविता में जो उन्हें न केवल अपने समकालीन बहुचर्चित कवियों और काव्य धाराओं से अलग एक विशिष्ट स्थान प्रदान करता है ? पाठ्यक्रमों या अध्यापकीय आलोचनाओं ने या तो उन्हें रहस्यवादी कहकर छुट्टी पा ली या छायावाद काल की राष्ट्रीय उपधारा का वरिष्ठतम कवि कहकर उन्हें वर्गीकृत कर दिया। लेकिन क्या ये दोनों दृष्टियां उन्हें समझने के सही प्रयास हैं ? क्या गहराई में उतरकर उनके विलक्षण काव्य व्यक्तित्व की बुनियादी भावभूमि का सही निरूपण करते हैं ?

आज से लगभग 45-50 वर्ष पूर्व दादा ने खुद इस बारे में हलके विनोद के साथ अपनी जो व्यथा व्यक्त की थी उसे उन्हीं के शब्दों में सुनिये, हिमतरंगिनी की भूमिका में उन्होंने लिखा था -'कविता की धर्मशाला में जहाँ कुछ लोग कमरे पा गये थे, कुछ फर्श पर बिस्तर डाले बैठे थे, कुछ संपूर्ण धर्मशाला पर एकाधिकार किये थे, कुछ संपूर्ण धर्मशाला पर अपने ही हाथ की खड़िया मिट्टी से लिख रहे थे-'यहाँ सबसे सुरक्षित और श्रेष्ठ स्थान मेरा है,' वहाँ धर्मशाला से घबराने और भीड़ से परेशान होने की भीरु वृत्ति लिए मैं अलग ही खड़ा था, अलग ही खड़ा रहना चाहता रहा।'

1. धर्मयुग , 9 अप्रैल 1989 : धर्मवीर भारती

लेकिन आत्मविज्ञापन से सर्वथा दूर रहकर, छायावादी महाकवियों की तरह बड़े बाल रखकर, विलक्षण व्यवहार कर, या अपने चारों ओर एक रहस्यात्मक वातावरण बुनकर सीधे असीम से साक्षात्कार का दावा करने वालों की संस्कृति से बिलकुल अलग रहकर भी राष्ट्र के पुनर्जागरण, जनजीवन के कष्ट और वेदना तथा तरुण से तरुण कवि की प्रतिभाशाली रचनाओं से जुड़े रहने वाले दादा अपने प्रखर व्यक्तित्व, तेजस्वी वाणी और अनोखे कृतित्व के बल पर हिन्दी पाठक के मन में 'साहित्य देवता' के पद पर प्रतिष्ठित होते गये। क्यों, कैसे ?

इसके लिए दादा ने दो स्तरों पर क्रांतिकारी दृष्टि अपनायी- वह दृष्टि जो उस समय किसी और के पास नहीं थी। एक तो उन्होंने कवि कर्म की नयी युग व्याख्या की। जब रहस्यवादी और छायावादी कवि सीधे रहस्यमय असीम से जुड़ने के लिए भौतिक वास्तविक जगत को उपेक्षणीय समझता रहा तब दादा ने न केवल वास्तविक जगत को स्वीकार किया वरन विज्ञान का यथार्थ, लोकजीवन की यंत्रणा, राष्ट्रीय आन्दोलन, उपनिवेशवाद का आतंक और विश्वव्यापी मानवीय संकट को न केवल देखा, वरन उसके सहभागी रहे, और फिर भी अन्तरतम के सत्य की डोर नहीं छूटने दी। कारागार की दीवारों के पीछे, हथकड़ियों में जकड़े रह कर भी कोकिल की पुकार सुनी और वसंती संवेदना की कोकिला से उपनिवेशवाद की अमानुषिकता पर संवाद कायम किया। इसीलिए 'सामयिक' और 'शाश्वत' ये उनके लिये विरोधी विशेषण नहीं रहे। एक-दूसरे के अविभाज्य अंग थे। इस विषय में तथाकथित शुद्ध

रहस्यवादियों की शंकाओं का अप्रत्यक्ष रूप से निवारण करते हुए उन्होंने *हिम किरीटनी* की भूमिका में लिखा- 'दृष्टि का काम बाहर को देखना भी है और भीतर को भी। जब वह बाहर को देखती है, तब रचनाओं पर समय के निशान पड़े बिना नहीं रहते। जब वह भीतर को देखती है, तब मनोभावों के ऐसे चित्रण कलम पर आ जाते हैं, जिन्हें समय द्वारा शीघ्र पोंछा नहीं जा सकता। युग का लेखक न तो खुली आंखों से देखकर उलट-पुलट होते जगत पर अपना रक्तदान करने से चूक सकता है, न मुंदी आंखों की दुनिया में महामहिम मानव की कोमलतर और प्रखरतम मनोभावनाओं की पहुंच तक जाने से ही रुक सकता है।' वे इन दोनों भावभूमियों में कोई अन्तर्विरोध नहीं मानते थे- क्योंकि 'एक कवि के रक्त की पहचान और सिर का दान मांगती है और दूसरी वस्तु में समा सकने के कोमलतर क्षणों के उच्चतर समर्पण का सबूत चाहती है। एक कवि का निश्चय और दूसरी कवि की अनुभूति बन कर रहना चाहती है। इनमें विषमता कहां ?'

इसमें दो शब्द विशेष गौर के काबिल हैं। 'उच्चतर समर्पण'- समर्पण हो किन्तु केवल आवेग और भावुकता के स्तर पर नहीं। वह उच्चतर हो, यानी गहनतम मानवीय संवेदना- युग मर्यादा और व्यापकतम विश्ववेदना और आधुनिक चेतना को अपने में पूरी तरह समाहित किये हुए। वही उस समर्पण को गहरे अर्थ देता है। उच्चतर बनाता है।

जहां उन्होंने कवि कर्म को यह क्रांतिकारी नयी व्याख्या दी, वहीं उन्होंने, इस उच्चतरता के निर्वाह के लिए अपने उपास्य अपने प्राप्य प्रभु को भी एक

क्रांतिकारी व्याख्या दे डाली। यह 'उच्चतरता' जो मानवीय संवेदना का प्राप्य है, कवि का साध्य है। उनके प्रभु का प्रमुख आयाम तो यह 'उच्चतरता' है। यानी ऊंची उठान की आकांक्षा। रहस्यवाद का जो प्रभु अज्ञेय है, तम के पर्दे में आच्छादित है (करुणामय को भाता है तम के पर्दें में आना) वह दादा को स्वीकार नहीं। दादा का 'नील जलज तन श्याम' प्रभु तो इसी वास्तविक विश्व चेतना, ऐतिहासिक मानवता की ऊपर उठती हुई 'उच्चतरता' है। कैसे मार्मिक शब्दों में दादा ने उसकी व्याख्या की है- वे कहते हैं 'नीले आसमान की आशिकी में दीवारों या पर्वत शिख्रों की तरह ऊंचे उठने वाली वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति, किसी को जाने यह मालूम है या नहीं कि पानी अधिक हुआ के नीला दिखा, हवा घनी हुई कि नीली दिखी, आकाश घना हुआ कि नीला दिखा। यह हमारा दृष्टि घोष है या दृष्टि दोष कहना कठिन है। किन्तु ऊपर की हर उठान को लोगों ने श्यामसुन्दर नाम दिया है। मेरे निकट तो श्यामसुन्दर मीठा आकर्षणशील परम सत्य है। जब हवा जोर से चलती है तो मुझे लगता है उसने वेणु ले ली है, और जब अंधड़ का सन्नाटा सुनता हूं तो लगता है धरा गूंजने लगी है।'

उपरोक्त संस्मरण में भारती कहीं भी नहीं होते हुए भी आद्योपान्त दादा के साथ खड़े नज़र आते हैं। इसके साथ ही धर्मयुग में माखनलाल चतुर्वेदी की चार कविताएं भी प्रकाशित की गईं थी। पर मन की विवशता यहां भी आड़े आ गई। पूरे संस्मरण में जहां भारती के लेखन की उच्चता पूरी गरिमा के साथ विद्यमान है, वहीं पुष्पा भारती को प्रतिष्ठित करने का मोह वे नहीं त्याग सके।

इसीलिए तो धर्मयुग में इस संस्मरण के बीच में माखनलाल चतुर्वेदी द्वारा सन् 1959 में पुष्पा भारती को लिखे तीन पत्र आकर्षक साज-सज्जा के साथ प्रकाशित किये गये हैं। साथ में यह टिप्पणी भी है-'सन 1959! डॉ. धर्मवीर भारती तब प्रयाग विश्व विद्यालय के हिन्दी विभाग में थे और पुष्पा भारती कलकत्ता के श्री शिक्षायतन में प्राध्यापक थीं। उन दिनों दादा द्वारा उन्हें लिखे गये अनेक पत्रों में से तीन प्रेरक पत्र यहां प्रस्तुत हैं।' चूंकि इन पत्रों से भारती की पत्रकारिता का कोई सरोकार नहीं है, इसलिए उन्हें यहां उद्धृत करने की मैं कोई आवश्यकता नहीं समझता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी पत्रकारिता की प्रत्येक विधा में भारती ने पूरे महारत के साथ अपनी लेखनी चलाई है। वे अपने आप में पत्रकारिता का ऐसा विश्वविद्यालय थे जिससे ने केवल प्रेरणा मिलती है वरन् ऐसा बहुत कुछ सीखने को भी मिलता है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। 000

अष्टम अध्याय

धर्मवीर भारती और धर्मयुग

अष्टम अध्याय

धर्मवीर भारती और धर्मयुग

धर्मवीर भारती और धर्मयुग का रिश्ता केवल शब्द और कागज का रिश्ता नहीं था। ये दोनों एक-दूसरे के इस हद तक पर्याय और पूरक बन गए थे कि एक धर्म(वीर) के बिना दूसरे धर्म(युग) की कल्पना भी असम्भव हो गई थी। उनमें सच्चे अर्थों में शरीर और आत्मा का रिश्ता था। धर्मयुग शरीर था और धर्मवीर आत्मा। वैसे तो पत्रिका 'अचल' होती है और सम्पादक 'चल' किन्तु धर्मयुग का यह सम्पादक जब टाइम्स बिल्डिंग से विदा लेकर बाहर निकला तो सभी को ऐसा लगा मानो धर्मयुग के शरीर से उसकी आत्मा निकाल ली गई हो। बिना आत्मा के शरीर कब तक प्राणवान रहता ? धर्मवीर विहीन धर्मयुग ने भी कुछ वर्षों तक जल बिन मछली की तरह छटपटाते हुए अन्ततः अकाल मृत्यु का वरण कर लिया।[1]

सामान्यतः किसी भी पत्रिका का सम्पादक स्वयं को पत्रिका में प्रकाशित होने वाली सामग्री के चयन, सम्पादकीय नीतियों और सम्पादकीय विभाग

1. शब्दों का यायावर : अपर्णा खरे , दैनिक नई दुनिया

तक ही सीमित रखता है किन्तु भारतीजी ने अपने-आप को यहीं तक सीमित नहीं रखा। उन्होंने व्यवस्था से लेकर पत्रिका के प्रसार तक सभी कार्यों में न केवल दिलचस्पी ली बल्कि सक्रिय और सार्थक भूमिका भी निभाई। इस सक्रियता के कारण ही धर्मयुग उस मुकाम तक पहुँच सका जहाँ हिन्दी की कोई भी अन्य पत्रिका दूर-दूर तक उसके समकक्ष भी खड़ी नहीं हो सकी। यहाँ मैंने धर्मयुग के प्रकाशन में धर्मवीर भारती की विभिन्न भूमिकाओं को समझने का प्रयास किया है। इसके लिए उनके सम्पादकीय सहयोगियों व अन्य विभागों के कुछ कर्मचारियों से हुई बातचीत से उपयोगी जानकारी प्राप्त हुई।

व्यवस्था

स्तरीय पत्रिका का प्रकाशन भी अब एक बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठान के संचालन के समान हो गया है। धर्मयुग के प्रकाशन की व्यवस्था को भलीभाँति समझने के लिए हमें उसके प्रबन्ध तंत्र को समझना होगा। धर्मयुग का प्रकाशन बैनेट कोलमैन एण्ड कम्पनी लिमिटेड, बम्बई द्वारा किया जाता था।

कम्पनी का निज़ाम एक संचालक मण्डल द्वारा संचालित होता था। यह सर्वोच्च सत्ता थी।[1] इसके कार्यों की नियमित समीक्षा के लिए प्रमुख आंतरिक अंकेक्षक नियुक्त किया गया था। आंतरिक अंकेक्षक, अंकेक्षण निरीक्षक व अन्य कर्मचारी इस कार्य में उसे सहयोग प्रदान करते थे। संचालक मण्डल और विभिन्न विभागों के प्रमुखों के बीच सामंजस्य और सूचनाओं के आदान-प्रदान का दायित्व महाप्रबन्धक का था। कम्पनी के सभी प्रकाशनों में महाप्रबन्धक

1. हिन्दी पत्रकारिता के सिद्धान्त : आर. सी. त्रिपाठी, पृ. 231

का नाम भी प्रकाशित होता था। इसे सहयोग प्रदान करने के लिए एक सहायक महाप्रबन्धक भी होता था।

प्रकाशन व्यवसाय के सुव्यवस्थित संचालन के लिए विभिन्न दायित्वों को निम्नलिखित विभागों में विभाजित किया गया था :-

1. प्रबन्धन

2.सम्पादन

3. उत्पादन

4. कर्मचारी

5. व्यापार / प्रसार

6. विज्ञापन

कम्पनी का सचिव प्रबन्धन विभाग का प्रमुख हुआ करता था। प्रमुख लेखाधिकारी इस विभाग का सर्वोच्च अधिकारी हुआ करता था। उसके अधीन क्रमश: वाच और वार्ड सुपरिन्टेन्डेन्ट, प्रखर लेखापाल, लेखापाल व अधीनस्थ स्टाफ होता था।

उत्पादन विभाग का प्रमुख व्यवस्थापक (उत्पादन) होता था। मशीन सुपरिन्टेन्डेन्ट, बाइंडिंग सुपरिन्टेन्डेन्ट, कम्पोजिंग सुपरिन्टेन्डेन्ट व प्रोसेस सुपरिन्टेन्डेन्ट इसके अधीन काम करते थे।

कर्मचारी विभाग के प्रमुख व्यवस्थापक के अधीन कर्मचारी अधिकारी, प्रमुख अभियंता, पुस्तक विभाग प्रकाशन अधिकारी, व्यापारिक व्यवस्थापक व सभी शाखा कार्यालयों के प्रतिष्ठान अधिकारी आते थे। अन्य विभागों के

कर्मचारियों का भी आर्थिक नियंत्रण इसी विभाग के पास रहता था।

व्यापार विभाग का प्रमुख व्यापार व्यवस्थापक के नाम से जाना जाता था। इस विभाग का मुख्य कार्य कम्पनी के विभिन्न प्रकाशनों के प्रसार का पूरा हिसाब-किताब रखना ही नहीं बल्कि प्रसार सम्बन्धी कारोबार में ज्यादा से ज्यादा वृद्धि करना भी था। प्रकाशनों के सुव्यवस्थित विपणन का उत्तरदायित्व भी इसी विभाग का था।

विज्ञापन विभाग का दायित्व सभी प्रकाशनों के लिए अधिक से अधिक विज्ञापन एकत्रित करना था। इसके लिए विज्ञापन व्यवस्थापक द्वारा विज्ञापन-दाताओं को लुभाने के लिए समयबद्ध कार्ययोजना तैयार की जाती थी। इस विभाग को अधिक महत्व इसलिए भी मिलता था क्योंकि कम्पनी की आय का सबसे बड़ा साधन विज्ञापन ही थे।

सम्पादकीय विभाग का प्रमुख सम्पादक होता था। यहाँ यह बताना भी जरूरी समझता हूँ कि अन्य सभी विभागों के प्रमुख व्यवस्थापक जहाँ सभी प्रकाशनों के लिए एक होते थे, वहीं प्रत्येक प्रकाशन का सम्पादक अलग-अलग होता था। इसके लिए कम्पनी ने प्रधान सम्पादक की अवधारणा को अंगीकार नहीं किया था। इसकी उत्तरोत्तर प्रगति का एक कारण यह भी रहा।[1]

यहीं से धर्मयुग के प्रकाशन में धर्मवीर भारती की भूमिका प्रारम्भ होती है। उनकी भूमिका को रेखांकित करने से पहले दो बातों पर प्रकाश डालना आवश्यक समझता हूँ - एक तो यह कि उपरोक्त भारी-भरकम स्टाफ के

1. मेरे दस सम्पादक : प्रकाश हिन्दुस्तानी, पृ. 65

बावजूद किसी भी पत्रिका के रूप-रंग और चरित्र के निर्धारण का दायित्व पूर्णतः सम्पादकीय विभाग के पास ही रहता है। ऐसे में यदि पत्रिका पाठकों की पसन्द पर खरी उतरे तब तो उसकी प्रगति का श्रेय लेने के लिए प्रत्येक विभाग अपनी दावेदारी करने लगता है, किन्तु यदि किन्हीं कारणों से पत्रिका पसन्द न की जाये (भले ही इसके लिए खराब छपाई या अव्यवस्थित वितरण व्यवस्था दोषी हो) तो सारा ठीकरा सम्पादकीय विभाग के सिर फोड़ दिया जाता है। दूसरी बात यह है कि अन्य विभागों के इस प्रकार के रवैये के कारण ही ज्यादातर सम्पादक अपनी सारी ऊर्जा सामग्री के चयन और प्रस्तुतीकरण पर लगाना पसन्द करते हैं, एक बार सामग्री प्रकाशन के लिए सौंप दी फिर वे अपनी जिम्मेदारी से मुक्त हो जाते हैं। सामान्यतः इसमें कुछ गलत भी नहीं है।

भारती ने सम्पादक की इस परम्परागत कार्यप्रणाली से सर्वथा अलग कार्यप्रणाली अपनायी। सम्पादकीय विभाग किसी भी पत्र या पत्रिका का मूलाधार होता है। भारती जब धर्मयुग के सम्पादक थे तब इस प्रकाशन समूह की अन्य प्रमुख पत्रिकाएँ थीं - इलेस्ट्रेटेड वीकली, फिल्म फेयर, सारिका, माधुरी, फेमिना, दिनमान, पराग व साइन्स टुडे। बाद में कुछ वर्षों तक वामा का भी प्रकाशन हुआ। इन सभी पत्रिकाओं के सम्पादक अपने-अपने क्षेत्र के सुविख्यात व्यक्ति थे, परन्तु कम्पनी के सभी विभागों में जो लोकप्रियता और सम्मान भारतीजी को प्राप्त था वह अन्य दिग्गजों को नहीं।

भारतीजी जब धर्मयुग के आगामी अंकों की रूपरेखा तैयार करते थे तब अन्य विभागों के साथ सतत् तालमेल बनाकर रखते थे। धर्मयुग का जब कोई

विशेषांक निकलना होता था तो विज्ञापन विभाग के प्रमुख को बुलाकर उसे विशेषांक की पूरी रूपरेखा बताते थे ताकि वह अपने विज्ञापनदाताओं को उक्त विशेषांक के बारे में भलीभाँति बताकर उनसे विज्ञापन प्राप्त कर सकें। इसी प्रकार व्यापार विभाग के प्रमुख के साथ भी उनकी मंत्रणा होती थी। इस मंत्रणा का उद्देश्य यह होता था कि यदि व्यापार विभाग के प्रमुख को विशेषांकों के बारे में समय रहते पर्याप्त जानकारी होगी तो वह अपने शाखा कार्यालयों व अभिकर्ताओं से सम्पर्क कर उन्हें उस अंक की अधिक प्रतियाँ बेचने के लिए प्रेरित कर सकेगा और प्रिन्ट ऑर्डर देने से पहले ही बढ़ी हुई प्रतियों के बारे में अनुमान भी लगा सकेगा। इससे एक ओर जहाँ प्रतियों की बर्बादी को रोका जाता था, वहीं अधिक प्रतियों का अतिरिक्त प्रकाशन करने के बजाय पहले प्रिन्ट ऑर्डर में ही वह संख्या सम्मिलित हो जाती थी।

भारतीजी की यह रणनीति कितनी कारगर होती थी इसका अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि 17 फरवरी 1980 को प्रकाशित धर्मयुग के एक विशेषांक की पाँच लाख सात हजार प्रतियाँ बिकी थीं। हिन्दी की साहित्यिक साप्ताहिक पत्रिकाओं के लिए यह आँकड़ा आज भी एक कीर्तिमान है। इस विशेषांक की शानदार सफलता पर इसके अगले अंक में 'पाँच लाख के पार एक शानदार फागुन समाचार' शीर्षक से भारतीजी ने इस प्रकार धन्यवाद ज्ञापित किया था - 'आपको सुनकर प्रसन्नता होगी कि आपके धर्मयुग ने फिर एक अभूतपूर्व कीर्तिमान स्थापित किया। हमारे गत सप्ताह के विशेषांक का प्रिन्ट ऑर्डर पाँच लाख की संख्या को पार कर गया। 5 लाख 7 हजार।

व्यवस्था, मुद्रण, सम्पादन के अपने सहयोगियों, सभी विक्रेताओं तथा अपने क्रीड़ा समीक्षकों, छायाकारों, लेखकों और अपने प्रेमी पाठकों को अनेकानेक धन्यवाद।'[1] भारतीजी की यही विशेषता उन्हें अपने समकालीनों से ही नहीं बल्कि सर्वकालीन सम्पादकों से अलग कर उन्हें एक विशिष्ट सम्पादक के रूप में प्रतिष्ठित करती है।

सम्पादन

धर्मयुग का प्रथम अंक सन् 1950 में बम्बई से प्रकाशित हुआ था। अर्थात इसका उदय स्वतंत्र और गणतंत्र राष्ट्र में हुआ। इसके सामने उड़ान भरने के लिए अनन्त आसमान था। स्वतंत्रता का उल्लास उन दिनों प्रत्येक भारतीय को बेहद प्रफुल्लित किये हुए था। धर्मयुग के प्रथम सम्पादक प्रसिद्ध साहित्यकार इलाचन्द्र जोशी थे।[2]

यहाँ प्रसंगवश यह स्मरण कराना उचित होगा कि भारती ने इलाहाबाद में इन्ही इलाचन्द्र जोशी के साप्ताहिक 'संगम' में सहायक सम्पादक के रूप में काम किया था। बैनेट कोलमैन एण्ड कम्पनी ने प्रारम्भ के दस वर्षों में तीन सम्पादक बदले किन्तु धर्मयुग को वह स्वरूप प्रदान नहीं किया जा सका जो अपेक्षित था। संभवतः संचालक मण्डल के मस्तिष्क में इसकी कोई स्पष्ट रूपरेखा नहीं थी।[3] इसके बावजूद हिन्दी पाठकों ने इस पत्रिका का जोरदार

1. धर्मयुग, 24 फरवरी 1980
2. हिन्दी पत्रकारिता : डॉ. राम विद्रोही, पृ. 121
3. तदैव, पृ. 123

स्वागत किया जिसके परिणामस्वरूप दस वर्ष में ही इसकी प्रसार संख्या लगभग 50 हजार तक पहुँच गई। यह अपने-आप में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। इन वर्षों में इलाचन्द्र जोशी के अतिरिक्त हेमचन्द्र जोशी व सत्यदेव विद्यालंकार ने भी धर्मयुग के प्रकाशन का उत्तरदायित्व संभाला।[1]

सन् 1960 में प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक धर्मवीर भारती को जब धर्मयुग के सम्पादन का दायित्व संभालने का आमंत्रण मिला तो उनके सामने एक ऊहापोह की स्थिति थी। अपने बिखरते दाम्पत्य जीवन के कारण उन दिनों इलाहाबाद की आबोहवा भारती के लिए काफी कसैली हो चली थी। वे किसी दूसरे शहर में जा बसने के लिए छटपटा से रहे थे, पर साथ ही साथ यह दुविधा भी थी कि यदि यह प्रयोग विफल हो गया तो छब्बेजी बनने के लिए चले चौबेजी के लिए दुबेजी बनकर रह पाना भी मुश्किल हो जायेगा। इन दिनों पुष्पा के साथ नये नीड़ के निर्माण की आकांक्षा अत्यन्त प्रबल थी और इसी के चलते उन्होंने अन्ततः बम्बई जाने का दूरगामी निर्णय ले ही लिया।

उम्र के चौंतीसवें साल में किया गया इलाहाबाद से बम्बई तक का यह सफर भारतीजी को ऐसा रास आया कि फिर कभी उन्होंने पीछे मुड़कर नहीं देखा। उन्होंने जब धर्मयुग का सम्पादन संभाला तब यह पत्रिका साहित्यिक और राजनीतिक पत्रिका का ऐसा मिला-जुला रूप थी कि उसकी कोई स्पष्ट व्याख्या कर पाना सम्भव नहीं था। भारती ने इसे न केवल एक स्पष्ट स्वरूप प्रदान किया अपितु धर्मयुग को एक ऐसी सम्पूर्ण पत्रिका बना दिया जिसमें हर वर्ग और हर

1. हिन्दी पत्रकारिता के सिद्धान्त : आर. सी. त्रिपाठी, पृ. 233

रुचि के पाठकों के लिए स्तरीय सामग्री की मनमोहक प्रस्तुति होती थी।

भारतीजी की मेहनत जल्दी ही रंग लाई और धर्मयुग की गणना शीघ्र ही हिन्दी की श्रेष्ठतम पत्रिका के रूप में होने लगी। धर्मयुग की सफलता को इस बात से भी समझा जा सकता है कि सातवें दशक के अन्त तक यह पत्रिका बुद्धिजीवियों के लिए स्टेटस सिम्बल बन चुकी थी। पढ़ने-लिखने वाले हर घर में इसकी उपस्थिति अनिवार्य हो गई थी।

प्रारम्भिक दिनों में पत्रिका का आवरण पृष्ठ तो रंगीन होता ही था इसके अलावा अन्दर के चार या आठ पृष्ठ रंगीन होते थे। धीरे-धीरे अन्दर के रंगीन पृष्ठों की संख्या बढ़ती गई। आठवें दशक के अन्त तक तो सम्पूर्ण पत्रिका ही बहुरंगी हो चुकी थी।

इन दिनों धर्मयुग के प्रत्येक अंक में औसतन 72 पृष्ठ होते थे।पृष्ठों की संख्या विज्ञापनों की उपलब्धता के अनुसार घटती-बढ़ती रहती थी। निर्धारित आदर्श मानदण्ड के अनुसार किसी भी पत्र-पत्रिका में पठनीय सामग्री और विज्ञापनों का अनुपात 60 : 40 होना चाहिये, अर्थात कुल उपलब्ध स्थान में विज्ञापन 40 प्रतिशत से ज्यादा स्थान न घेरें यह ध्यान रखा जाना अपेक्षित है। इसी के अनुसार धर्मयुग के पृष्ठों की संख्या में कमी-वेशी होती रहती थी। प्रत्येक पृष्ठ तीन या चार कॉलम में विभक्त होता था। मुख्य पृष्ठ उस अंक की आवरण कथा पर आधारित तथा बहुरंगी होता था।

धर्मयुग के प्रत्येक अंक में समसामयिक घटनाओं पर आधारित रपट, लेख, निबन्ध, साक्षात्कार, संस्मरण, रिपोर्ताज आदि तो होते ही थे इसके अलावा

स्थायी स्तम्भों में ढब्बूजी का कार्टून कोना सर्वाधिक लोकप्रिय होता था। घूमता आईना, खबरों के आगे पीछे, देश-देशान्तर, हास-परिहास, तरुण मंच, सुर्खियों के पीछे, बच्चों के लिए चित्रकथा आदि अन्य प्रमुख स्तम्भ थे। धर्मयुग का एक अन्य लोकप्रिय स्तम्भ हुआ करता था 'आँखों देखी खबरें'। जब टीवी नहीं था और समाचार पत्रों में चित्रों को प्रकाशित करने की आधुनिक तकनीकें उपलब्ध नहीं थीं तब धर्मयुग का यह स्तम्भ दो पृष्ठों में पाठकों के लिए पिछले सप्ताह की प्रमुख घटनाओं की सचित्र झाँकी प्रस्तुत करता था। ज्यादातर पाठक पत्रिका हाथ में आते ही सबसे पहले यही पृष्ठ देखा करते थे।

इस सब सामग्री के अतिरिक्त धर्मयुग सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक व समसामयिक घटनाओं पर आधारित विशेष सामग्री भी पाठकों को उपलब्ध कराता था। इसके होली, दीवाली, स्वतंत्रता दिवस व गणतंत्र दिवस पर निकलने वाले विशेषांक किसी ऐतिहासिक दस्तावेज से कम नहीं होते थे। प्रत्येक अंक में एक धारावाहिक उपन्यास या लम्बी कहानी भी होती थी। हिन्दी साहित्य की कई महान कृतियाँ पहले धर्मयुग में धारावाहिक प्रकाशित होती थीं उसके बाद पुस्तकाकार रूप में छपती थीं। शिवानी के तो ज्यादातर उपन्यास पहले धर्मयुग में ही छपते थे। कृष्णा सोबती का बहुचर्चित उपन्यास 'ए लड़की' भी पुस्तकाकार प्रकाशित होने से पहले धर्मयुग में लम्बी कहानी के रूप में छपा था।

भारतीजी के सम्पादन के बारे में उनके साथ काम कर चुके प्रकाश हिन्दुस्तानी बताते हैं कि पत्रिका के स्वरूप के बारे में उनका दृष्टिकोण बहुत ही

साफ रहता था। भारतीजी कम से कम आगामी छह महीनों की रूपरेखा पहले से ही तैयार कर लेते थे। इसके लिए सम्पादकीय विभाग के सम्बन्धित सदस्यों से विस्तृत विचार विमर्श होता था। प्रस्तावित सामग्री के एक-एक बिन्दु पर बारीकी से चर्चा होती थी, और जब एक बार कोई बात तय हो जाती थी तो उसमें अनावश्यक फेरबदल या किसी काम का न हो पाना उन्हें कतई बर्दाश्त नहीं था।

सम्पादकीय विभाग के ज्यादातर सदस्य उनसे बात करने में घबराहट अनुभव करते थे। भारतीजी की एक अन्य विशेषता यह थी कि सम्पादकीय कार्यों में वे किसी का भी हस्तक्षेप पसन्द नहीं करते थे। प्रबन्धन का कोई नुमाइन्दा या कोई अन्य व्यक्ति पत्रिका की सामग्री को लेकर सम्पादकीय विभाग के किसी सदस्य से सीधे बात करे यह तो उन्हें बर्दाश्त ही नहीं था। एक बार तो उन्होंने महाप्रबन्धक राम तरनेजा को लगभग फटकार ही दिया था कि यदि आपको सम्पादकीय नीतियों के बारे में कोई चर्चा करनी है तो केवल मुझसे ही करें। उनका यह दबदबा अन्त तक कायम रहा।

मुद्रण

मुद्रण और सम्पादन दोनों बिलकुल अलग-अलग कार्य हैं। जिस प्रकार भारतीजी को यह बर्दाश्त नहीं था कि किसी अन्य विभाग का कोई व्यक्ति सम्पादकीय विभाग में दखल दे उसी प्रकार अन्य विभागों के प्रमुख भी प्राय: यही चाहते हैं कि सम्पादक उनके कार्यों में कोई हस्तक्षेप न करे। यह मानसिकता तर्कसंगत इसलिए भी है कि जिस तरह मशीन चलाने वाला व्यक्ति

सम्पादन कला का विशेषज्ञ नहीं हो सकता उसी प्रकार सम्पादक भी मुद्रण कला में पारंगत नहीं हो सकता था। यहाँ स्थिति थोड़ी सी भिन्न थी। जैसा के मैंने इस अध्याय के प्रारम्भ में लिखा है कि भारतीजी प्रत्येक विभाग के साथ पमरा तालमेल बनाकर काम करते थे, अलबत्ता यह मर्यादा उन्होंने अवश्य बना रखी थी कि सम्पादकीय सामग्री के बारे में उनके सहयोगियों से नहीं बल्कि सीधे उन्हीं से बात की जाये। वे स्वयं भी इसका पालन करते थे, और यदि कोई बात कहनी होती तो सम्बन्धित विभागों के प्रमुखों से ही कहते थे।

धर्मयुग के मुद्रण के सम्बन्ध में उन्होंने एक नई परम्परा यह प्रारम्भ की कि जब भी नये अंक का प्रकाशन होता था तो मशीन को हरी झण्डी देने से पहले प्रकाशित हो रहे पृष्ठों को भारतीजी से अनुमोदित करवाया जाता था। समूह की अन्य पत्रिकाओं में यह व्यवस्था कभी नहीं बन सकी।

अन्य विवरण

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्मयुग में भारतीजी की भूमिका मात्र सम्पादकीय सामग्री तैयार करने तक ही सीमित नहीं थी, अपितु उसे पाठकों तक पहुँचाने और उसकी प्रसार संख्या को निरन्तर बढ़ाने में भी उनका सक्रिय योगदान रहता था। इस योगदान के परिणामों का आकलन करने के लिए प्रसार सम्बन्धी कुछ आँकड़ों का अवलोकन करना ही पर्याप्त होगा।

वर्ष 1960 में जब भारतीजी ने धर्मयुग के सम्पादन का दायित्व ग्रहण किया था तब इस पत्रिका की प्रसार संख्या 59, 498 हजार थी। पाँच वर्ष बाद दिसम्बर 1965 तक इस संख्या में पचास हजार से भी अधिक की वृद्धि हो चुकी

थी। कम्पनी के प्रसार विभाग के आँकड़ों के अनुसार इस समय तक यह पत्रिका 1, 12, 776 हजार छपने लगी थी। अगर गणितीय हिसाब से देखें तो भारती द्वारा सम्पादन का जिम्मा संभालने के बाद धर्मयुग की प्रसार संख्या में औसतन प्रतिवर्ष दस हजार की वृद्धि हुई। इस अप्रत्याशित वृद्धि की कल्पना तो प्रबन्धकों ने भी नहीं की थी। दिसम्बर 1970 में धर्मयुग की प्रसा संख्या 1, 42, 228 हजार थी और दिसम्बर 1975 में यह आँकड़ा 2, 04, 249 तक पहुँच चुका था। अगले पाँच साल धर्मयुग की प्रसार संख्या में बेतहाशा वृद्धि के साल थे। औसतन प्रतिवर्ष प्रसार संख्या में बीस हजार प्रतियों की बढ़ोत्तरी करते हुए धर्मयुग की प्रसार संख्या सन् 1980 में तीन लाख के जादुई आँकड़े को छूने लगी थी।

न केवल बैनेट कोलमैन एण्ड कम्पनी लिमिटेड का संचालक मण्डल बल्कि प्रमुख प्रतिद्वन्दी हिन्दुस्तान टाइम्स का संचालक मण्डल भी धर्मयुग की इस सफलता पर चकित था। सभी लोग इस बात पर एकमत थे कि यह अकेले धर्मवीर भारती की उपलब्धि है। उनके अलावा यह चमत्कार कर पाना अन्य किसी के बूते की बात नहीं थी। इस मुकाम पर आकर भारतीजी को अन्य संस्थानों से कई आकर्षक प्रलोभन भी मिले किन्तु गुनाहों के देवता को यह गुनाह करना मंजूर न था।

किसी भी बढ़ते हुए औद्योगिक प्रतिष्ठान को एक रोग प्राय: घुन की तरह खा जाता है, वह है कर्मचारियों की यूनियनबाजी। कर्मचारी नेताओं की बातें

सुनने में तो बड़ी लुभावनी और तर्कसंगत लगती हैं, लेकिन इतिहास साक्षी है कि कुछेक अपवादों को छोड़कर इस यूनियनबाजी से कभी किसी सामान्य कर्मचारी का भला नहीं हो सका है। अनेक चलते हुए कारखाने कर्मचारियों के तथाकथित ठेकेदारों के कारण बन्द हो चुके हैं। जो कर्मचारी नेता लाभ में चल रहे प्रतिष्ठानों में कर्मचारी के हित को लेकर मरने-मारने पर उतारू हो जाते हैं, वही प्रतिष्ठान में ताला पड़ने के बाद भूखों मर रहे कर्मचारी के पास सांत्वना के दो बोल बोलने भी नहीं पहुँच पाते। बैनेट कोलमैन की पत्रिकाओं को भी यही घुन खा गया। मैं यहाँ इस बात से सहमत हूँ कि कम्पनी का तत्कालीन प्रबन्धन कर्मचारी हितों के साथ न्याय नहीं कर रहा था, कर्मचारियों को उनका समुचित पावना नहीं मिल रहा था। यह नैतिक और वैधानिक दोनों ही दृष्टियों से गलत था, किन्तु इसके प्रतिकार के लिए जो रास्ता अपनाया गया उससे कर्मचारियों का भला तो किंचित भी न हो सका उलटे दर्जनों कर्मचारी बेरोजगार होकर भुखमरी के शिकार जरूर हो गए।

सन् 1983 में कर्मचारियों की हड़ताल के कारण धर्मयुग के कुछ अंक प्रकाशित नहीं हो सके थे। सन् 1984 में पुनः हड़ताल हुई। इस बार इसकी अवधि लम्बी थी। धर्मयुग का स्वाधीनता दिवस विशेषांक (12 अगस्त से 18 अगस्त) छपने के लिए मशीन पर जा चुका था। इसके आवरण पर तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी का चित्र था। कर्मचारियों के अचानक हड़ताल पर चले जाने के कारण इस अंक का मुद्रण न हो सका। यह हड़ताल लगभग

साढ़े चार महीने चली। सनद रहे कि 23 दिसम्बर 1984 को जब धर्मयुग का पुन: प्रकाशन प्रारम्भ हुआ तब श्रीमती गांधी की हत्या हो चुकी थी।

23 दिसम्बर 1984 के अंक में बैनेट कोलमैन के मैनेजिंग डाइरेक्टर राम तरनेजा का **'धर्मयुग : अब पुन: आपके साथ'** शीर्षक से पाठकों के नाम एक पत्र प्रकाशित हुआ था जो यहाँ अविकल प्रस्तुत है -

'साढ़े चार महीनों से ज्यादा और 19 अंकों के एक लम्बे अंतराल के बाद इस अंक से धर्मयुग का प्रकाशन पुन: आरम्भ हो गया है। पिछले वर्ष भी और इस वर्ष भी श्री गुलाब जोशी के नेतृत्व वाली 'कामगार उत्कर्ष सभा' के आह्वान पर सहसा अवैधानिक हड़ताल के कारण इसका प्रकाशन अचानक बन्द हो गया था।

आपको अपना प्रिय धर्मयुग न मिल सके, इसके लिए 12 अगस्त से हमारे कर्मचारियों को डराया-धमकाया गया और यहाँ तक कि उन पर प्रहार भी किया गया। कामगार उत्कर्ष सभा के सक्रिय कार्यकर्ताओं ने 'बांबे यूनियन ऑफ जर्नलिस्ट्स' के कार्यालय में खुली सभा में हमारे पत्रकारों पर प्रहार किया। हमने अक्टूबर और नवम्बर में बम्बई से अपने सभी दैनिक अखबारों का प्रकाशन पुन: आरम्भ कर दिया था। अब हम समर्पित भावना वाले कर्मचारियों के सहयोग से इस अंक से धर्मयुग तथा इलेस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इण्डिया का नियमित प्रकाशन पुन: आरम्भ कर रहे हैं।

इस अवसर पर हम अपने सभी सहयोगियों, पाठकों, विज्ञापनदाताओं,

पत्र-विक्रेताओं, शांतिप्रिय कर्मचारियों और अन्य सभी लोगों को धन्यवाद देना चाहते हैं, जिन्होंने हमारे साथ ही धर्मयुग की अनुपस्थित का कष्ट झेला है। हमें आशा है कि आपका सहयोग हमें निरन्तर मिलता रहेगा। धर्मयुग की अनुपस्थित में आपको जो असुविधा हुई है, उसके लिए हमें अत्यन्त खेद है। मैं आप सबको अपनी शुभ कामनाएँ देता हूँ।

- राम तरनेजा , मैनेजिंग डाइरेक्टर '

धर्मयुग का यह उत्कर्ष धर्मवीर भारती का 'वन मैन शो' था इस बात की सत्यता इस बात से भी प्रमाणित होती है कि जब अपने षष्ठिपूर्ति समारोह के बाद दिसम्बर 1987 में जब भारतीजी ने धर्मयुग से विदा ली तो धर्मयुग अनाथ सा हो गया। इस बीच तीन लाख प्रसार संख्या तक पहुँचने वाली इस पत्रिका का प्रसार दिसम्बर 1986 में लुढ़ककर एक लाख 41 हजार तक आ गया।

इसके बाद के वर्ष एक दैदीप्यमान पत्रिका के शिखर से सिफर तक के सफ़र के दयनीय वर्ष हैं। भारतीजी के बाद गणेश मंत्री, मनमोहन सरल और विश्वनाथ सचदेव ने धर्मयुग के सम्पादन का दायित्व संभाला, पर पत्रिका में जो रिक्तता, जो अभाव पाठकों को महसूस हो रहा था उसकी पूर्ति न कर सके। ये सभी भारती के साथी तो थे, पर भारती न थे; जबकि धर्मयुग को शायद केवल भारती की ही जरूरत थी। उसे भारती की लत जो लग चुकी थी।

धर्मयुग की तेजी से घटती प्रसार संख्या पर जब हरसंभव प्रयासों के बावजूद भी अंकुश न लगाया जा सका तो जुलाई 1990 में इस साप्ताहिक पत्रिका को

पाक्षिक कर दिया गया। इसका आकार भी घटाकर इसे ए -4 आकार में प्रकाशित किया जाने लगा। इससे भी बिगड़ती हुई स्थितियों को नियंत्रित न किया जा सका और अन्ततः सन् 1995 में इसे बन्द कर दिया गया। यह एक महान पत्रिका का अत्यन्त दु:खद और दारुण अन्त था, किन्तु इस अन्त से यह सत्य स्थापित हो गया कि कभी-कभी किसी एक व्यक्ति की निष्ठा और समर्पण किसी पत्रिका के लिए किस उस व्यक्ति को अपरिहार्य बना देती है। **000**

नवम् अध्याय

उपसंहार

उपसंहार

पिछले अध्यायों में हमने देखा कि हिन्दी पत्रकारिता के सौर मंडल में डॉ. धर्मवीर भारती एक धमकेतु की तरह उदित हुए और अपने आभामंडल से समूचे परिवेश को आच्छादित कर लिया। भारती की महानता केवल यह नहीं थी कि वे स्वयं उच्चकोटि के पत्रकार थे, या उनकी लेखनी ने जिन शब्दों का शृंगार किया वे ऐतिहासिक दस्तावेजों की तरह अमर हो गए हैं। भारती की महानता यह है कि उन्होंने जागरूक, कुशल, समर्पित और अपने नैतिक दायित्वों के प्रति कटिबद्ध रहने वाले पत्रकारों की ऐसी सामर्थ्यवान जमात तैयार की जो समाज की हलचलों को आँखों देखा हाल सुनाने वाले उद्घोषक की तरह पाठकों तक नहीं पहुंचाते अपितु उसका तटस्थ विश्लेषण करते हुए पाठक को दायित्व बोध भी कराते हैं। भारती की शिष्य परम्परा के ये पत्रकार प्रलोभनों से निर्लिप्त रहकर हिन्दी पत्रकारिता को जिस तरह समृद्ध कर रहे हैं, उससे यह आश्वस्ति तो मिलती ही है कि इसका भविष्य बहुत उज्ज्वल है। हिन्दी पत्रकारिता को यह उनकी ऐसी देन है जिसके लिए समाज और देश सदैव उनका ऋणी रहेगा।

वर्तमान हिन्दी पत्रकारिता पर दृष्टिपात करें तो यह कहा जा सकता है

कि धर्मयुग के दिन हिन्दी पत्रकारिता के सबसे स्वर्णिम और सबसे गौरवशाली दिन थे। समाचारों को तलाशने और उनके मर्म तक पहुँचने वाले पत्रकारों की इन दिनों सबसे गहन वेदना यही है उनकी प्रतिभा को अब धर्मयुग जैसा कोई मंच उपलब्ध नहीं है।

भारती ने जब धर्मयुग के सम्पादन का गुरुतर दायित्व संभाला तो उन्हें पत्रिका के रूप में एक तरह से कच्ची मिट्टी ही मिली थी, जिसे उन्होंने एक सुघढ़ कुम्हार की तरह रच-गढ़ कर एक ऐसे दीपक में परिवर्तित कर दिया जिसका आलोक समाज की किसी भी अमावस्या का तिमिर हरने के लिए न केवल आतुर है बल्कि वह ऐसा करने में पूर्णतः सक्षम भी है। अथाह समुद्र में विद्यमान लाइट हाउस की तरह भारती ने भी पत्रकारिता के न जाने कितने भटके हुए जहाजों को दिशा बोध कराया।

भारती की एक विशेषता यह भी थी कि वे अपने समकालीनों से बिना बात उलझने, उन्हें किसी भी तरह गलत साबित करने या उनकी लकीर को अकारण छोटा करने जैसे हकीर कार्यों में कभी लिप्त नहीं रहे। उन्हें तो स्वयं बड़ी और स्पष्ट लकीर खींचने की आदत थी, और वे बड़ी निपुणता से ऐसा कर भी पाते थे। उनका साफ मानना था कि सम्पादक के नाते उनकी पहली और इकलौती जवाबदेही अपने पाठक के प्रति है। वही उनकी सर्वोच्च सत्ता है। पाठक के प्रति इस सरोकार को उन्होंने अपने सम्पादन काल में पूरी जिजीविषा और ईमानदारी के साथ कायम रख।

इसीलिए धर्मयुग ने लोकप्रियता और प्रतिष्ठा के जिस उच्चतर शिखर को छुआ वहाँ तक अन्य कोई भी समकालीन पत्रिका (टाइम्स समूह की पत्रिकाओं समेत) कभी नहीं पहुँच सकी।

धर्मयुग की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता यह थी उसमें आयु और बौद्धिक स्तर के लिहाज़ से प्रत्येक वर्ग के पाठक के लिए श्रेष्ठतम सामग्री उपलब्ध रहती थी। सन् 1960 में जब भारती टाइम्स बिल्डिंग में विराजमान होने के लिए इलाहाबाद से बम्बई पहुँचे थे उन दिनों अन्य पत्रिकाओं की तरह धर्मयुग में भी चटपटी कविताओं और मसालेदार अगम्भीर लेखों की ही अधिकता रहती थी। उन्होंने बड़े सुनियोजित और सुविचारित ढंग से समयबद्ध कार्यक्रम बनाकर धीरे-धीरे धर्मयुग के स्वरूप और चरित्र को परिवर्तित किया।

भारती ने अपने समय के मूर्धन्य साहित्यकारों और प्रत्येक क्षेत्र के विशेषज्ञ लेखकों को तो धर्मयुग से जोड़ा ही, साथ ही नई प्रतिभाओं को भी पर्याप्त अवसर और प्रोत्साहन प्रदान किया। उनका निरन्तर यही प्रयास रहा कि प्रत्येक वर्ग के पाठक को श्रेष्ठतम सामग्री तो पढ़ने को मिले ही साथ ही वह यह भी जाने कि समाज, देश और दुनिया में क्या-क्या घट रहा है? क्यों और कैसे घट रहा है? तथा जो घट रहा है उसके निहितार्थ क्या हैं, और उसके फलितार्थ क्या होंगे?

नवीनतम घटनाओं को तटस्थ विश्लेषण के साथ वे अपने पाठकों तक

इस पहुंचाते थे कि वह उनसे निर्लिप्त न रह सके और अपने सरोकारों के अनुरूप अपनी भूमिका तय कर सके। यह उनके सम्पादकीय कौशल का ऐसा अद्‌भुत गुण था जिसके दर्शन आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के बाद की पीढ़ी में नहीं होते। स्वयं रूमानियत में आकंठ डूबे भारती ने धर्मयुग पर अपनी इस विचारधारा का लेशमात्र भी प्रभाव परिलक्षित नहीं होने दिया।

धर्मयुग का विषय वैविध्य भी अन्यतम था। एक तरफ इतिहास, पुरातत्व, शिकारकथाओं और रहस्य रोमांच की सच्ची घटनाएं थीं तो दूसरी तरफ विज्ञान के नवीनतम आविष्कारों की जानकारी भी धर्मयुग ही सबसे पहले उपलब्ध कराता था। धर्मयुग ने साहित्यिक रचनाओं को भी नया आयाम देते हुए उनमें सार्थकता बोध को सर्वाधिक वरीयता दी। समसामयिक घटनाओं के प्रति धर्मयुग की जागरूकता और तत्परता ने भी इस पत्रिका को पाठकों की सबसे चहेती पत्रिका बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। एक सम्पादक के रूप में भारती यथार्थ को बिना किसी लाग-लपेट के पाठकों तक पहुँचाने में विश्वास रखते थे। उनका मानना था कि पाठक स्वयं सबसे सशक्त और समझदार पर्यवेक्षक होते हैं। पत्रकार का काम उनको तथ्यों से अवगत कराना है, बाकी का काम और अपनी भूमिका का निर्णय तो पाठक अपने-आप कर लेंगे।

एक सम्पादक के तौर पर भारती के बारे में कोई निष्कर्ष निकालने के

पहले इस बात पर भी विचार करना जरूरी है कि एक श्रेष्ठ सम्पादक में क्या- क्या गुण होने चाहिये। इस बारे में प्रसिद्ध समीक्षक बिल कार्लटन का कहना था कि -'क्या वह सब जानता है ? सब कर सकता है ? सब हो सकता है ? फिर भी उसमें जोश-खरोश और हँसी-खुशी बनी रहती है। यदि ऐसा है तो हम शायद उसमें से एक सम्पादक पा सकते हैं।'

कार्लटन का यह कथन सार्वभौमिक है। वास्तव में सम्पादक का व्यक्तित्व एक महासमुद्र के समान होना चाहिए जिसमें विभिन्न दिशाओं से आने वाली गहन भाव-धाराएं और विचार वाहिनियाँ निरन्तर समाहित होती रहती हों और वह शान्त, शुद्ध, सहज, स्थिर बना रहे। जहां इन गुणों का अभाव होता है, वहाँ सम्पादक काठ का पुतला बन जाता है। उसके सहयोगी उसकी परवाह नहीं करते, उसको वेतन देने वाला मालिक उसका मूल्य नहीं समझता, जनता उसको अपने स्वार्थ-साधन का आधार बना लेती है, पत्र या पत्रिका की कोई नीति नहीं रह जाती, प्रशासन उसका प्रभाव नहीं स्वीकार करता, प्रेस उद्योग के अन्य विभाग-विज्ञापन, प्रसार, प्रेस-सारी असफलताओं का दोष उसके सिर मढ़ देते हैं। वह चाटुकार, लोभी, परमुखापेक्षी और आत्मदृष्टि से भी गिरा हुआ स्वत: अपना विनाश बुला लेता है। एक साधक की स्थिति पाने के लिए सम्पादक को यह अपरिहार्य है कि वह गहन अध्ययन और निरन्तर चिन्तन करे।

दूसरे शब्दों में किसी पत्रिका के दफ्तर में जो भी कुशलता है उसका

मापदण्ड सम्पादक का व्यक्तित्व और कृतित्व है। यदि उसके विचार और उनका प्रकाशन पत्रिका को बिक्री योग्य बनाने में सक्षम नहीं तो अत्यन्त कुशल प्रबन्ध और विज्ञापन विभाग भी उस पत्रिका को नहीं चला सकते।

सम्पादक के व्यक्तित्व में उसकी हंसी-खुशी भरी ऊपरी सतह के नीचे बहुआयामी विचार और भावधाराएं प्रवहमान होती हैं। इन धाराओं में से प्रत्येक, अवसरानुकूल, सम्पादक की अभिव्यक्ति पाकर, उसकी कल्पनाशील तीक्ष्ण दृष्टि पाठक की रुचि पहचानने की शक्ति के साथ प्रकट हो जाती है जिससे निर्जीव समाचार सजीव बन जाता है, उसकी टिप्पणी में जीवन का नया रंग भर जाता है और शुष्क भाषण भी रुचिकर और ग्राह्य बन जाते हैं। उसकी अन्तर्दृष्टि का प्रकाश पाकर कोई भी सामग्री एक कली से प्रस्फुटित सौरभयुक्त पुष्प के रूप में पाठक के पास पहुंचता है। यही उसकी उपलब्धि है। यही उसकी महनीयता है।

परन्तु ऐसी महान साधक शक्ति प्राप्त करने के लिए सम्पादक को एक ऐसे संगमस्थल का कार्य करना पड़ता है जहां एक ओर सम्पादक वर्ग, संवाददाता वर्ग का मानस संतोष तथा उनकी कार्यकुशलता का उत्तरदायित्त्व होता है, उन्हें उत्साहित करना, दिशा निर्देश करना, साथ ही उन्हें अपने प्रभाव एवं नियंत्रण के अन्तर्गत रखना होता है वहीं दूसरी ओर उन नीतियों और कार्यपद्धतियों के प्रति भी उसे सतर्क रहना पड़ता है, जिन्हें किसी पत्रिका का स्वामी या उसका संचालन करने वाली कम्पनी निर्धारित करती

है। कम्पनी या पत्रिका का मालिक यह चाहता है कि अधिक से अधिक विज्ञापन मिलें और साथ ही उसका प्रचार-प्रसार भी काफी हो। वह सामग्री को महत्व नहीं देता। ऐसी स्थिति में सम्पादक जनता का प्रतिनिधि होकर अपने पाठकों का दृष्टिकोण कम्पनी के निदेशक या स्वामी के सम्मुख रखता है। यदि वह निर्भीकतापूर्वक अपना पक्ष नहीं रख पाता तो जनता या पाठकों के प्रति वह अनुत्तरदायी सिद्ध होता है। और यदि रखता है तो पत्र के स्वामी की स्वार्थसिद्धि में बाधक होता है। अतः इस द्विविधात्मक स्थिति में उसकी वृद्धि और प्रत्युपन्नमति की परीक्षा होती है। वह जितना सफल होता है उतना ही गौरवपूर्ण प्रभाव विस्तार पाता है। इस तरह की स्थितियाँ कांटों से भरे ताज के समान होती हैं। सहयोगी उपसम्पादक गण तथा संवाददाता वर्ग समाचारों, लेखों आदि के लिए अधिक स्थान की मांग करते हैं और विज्ञापन विभाग अपने आय के स्रोत के प्रति दृढ़ संकल्पी होता है। सम्पादक को दोनों को संतुष्ट करके पत्रिका की नीति को दिशा निर्देश देना होता है जो अनेक कठिनाइयों से भरा कार्य है।

मूलतः एक सच्चे सम्पादक का सम्बन्ध न तो व्यवसाय से होता है और न धन अर्जित करने से। यदि वह अपने कार्य में दक्ष है और अपने कर्तव्य के प्रति सचेत है तो धन-अर्जन अनुषांगिक हो जाता है। उसे समाज को संदेश देना होता है, किसी महान आदर्श का प्रतिपादन करना होता है और ऐसा करके वह अपने पत्र को जनमानस में प्रतिष्ठित करता है। जिस पत्रिका

का मुख्य उद्देश्य केवल धन-संग्रह होता है वह अधिक दिन तक जीवित नहीं रह पाता है। धन का अर्जन किसी भी अच्छे समाचार-पत्र का परिणाम है, उसका उद्देश्य नहीं।

भारती को सम्पादक की इस कसौटी पर कसने के बाद हम निस्संकोच यह कह सकते हैं कि अपने जीवनकाल में ही मिथक बन जाने वाले डॉ. धर्मवीर भारती किसी भी व्यक्ति के लिए पत्रकारीय यात्रा में मील का ऐसा पत्थर हैं जो उसे तनिक भी दिग्भ्रमित हुए बिना लक्ष्य तक पहुँचा सकने में समर्थ हैं। यही उनकी उपादेयता है और यही उनकी उपलब्धि। किसी भी पत्रकार की इससे बड़ी सार्थकता और क्या हो सकती है।

पत्रकारिता की ही भाँति साहित्यिक क्षेत्र में भी भारती का अवदान स्तुत्य है। आज जब वे हमारे बीच नहीं हैं तब भी उनकी कलम पूरी जिजीविषा के साथ हमसे संवाद कर रही है। नयी कविता का सूत्रपात एक आन्दोलन के रूप में इसी नाम की पत्रिका द्वारा हुआ। इस पत्रिका की रूपरेखा भारती ने ही बनाई थी। भारती नई कविता को प्रयोगवाद का अग्रिम चरण मानते थे जो आधुनिक युगबोध के अनुरूप अपने शिल्प का निर्माण करती है। दूसरा सप्तक के कवियों में भारती सबसे ज्यादा रोमांटिक कवि हैं। इसमें भारती के व्यक्तित्व के अनेक आयाम प्रतिबिम्बित हुए हैं। आस्था-अनास्था का संघर्ष, आस्था के प्रति झुकाव, रूमानियत का आकर्षण, मांसलता एवं सजीवता का बेहिचक अंकन और प्रयोग की क्षमता इस संग्रह में संकलित

उनकी कविताओं में साफ दृष्टव्य है।

मध्यवर्गीय युवा मानस की कुंठाओं और स्वप्नभंग के दारुण अनुभवों और हताशाओं का रूपायन 'ठंडा लोहा' में हुआ है। इसमें कवि ने व्यक्तिगत के साथ समष्टिगत का सुन्दर समन्वय किया है। 'सात गीत वर्ष' में प्रयोगात्मकता की सार्थकता स्थापित करने का प्रयास किया गया है। 'अंधा युग' में नाट्य और काव्य दोनों का चरम विकास देखने को मिलता है। इस क्रति का नायक 'अश्वत्थामा' हिन्दी साहित्य को भारती की अमूल्य देन है। इसी प्रकार 'कनुप्रिया' की राधा के माध्यम से भारती ने रूमानियत और समर्पण की चरम तन्मयता का जो संसार रचा उस तल्लीनता को तो वे स्वयं भी दुबारा कभी नहीं पा सके।

यही स्थिति उपन्यास लेखन में है। मात्र दो उपन्यास लिखकर भी केई इतना प्रसिद्ध हो सकता है इस सत्य पर भारती से परिचित हुए बिना सहसा विश्वास नहीं होता। उनके दोनों उपन्यास हिन्दी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। लोकप्रियता की दृष्टि से 'गुनाहों का देवता' का महत्व अक्षुण्ण है वहीं प्रयोगधर्मिता के मापदण्ड पर 'सूरज का सातवां घोड़ा' अतुलनीय है। यहाँ मैं इस तथ्य को भी रेखंकित करना चाहूँगा कि भारती के उपन्यासों में आभिजात्य वर्ग और निम्न वर्ग के पात्रों का लगभग अभाव सा ही है। मध्यवर्गीय पात्रों का चित्रण ही वे पूरी अंतरंगता से कर पाये हैं। इसका कारण यह भी हो सकता है कि इन पात्रों को उन्होंने स्वयं किसी न

किसी स्तर पर जिया है। पाठक को वही रचना झकझोरती है जिसमें लेखक अपने अनुभव को प्रेत बनाकर छोड़ दे। 'गुनाहों का देवता' में भारती के प्रथम प्यार का प्रेत ही तो प्रकट हुआ है। यही कारण है भारती के पहले उपन्यास का ही ऐसा अभूतपूर्व स्वागत हुआ कि स्वनामधन्य समीक्षक भी उनकी इस सफलता से चमत्कृत रह गए। उन पर आरोप भी खूब लगे किन्तु पाठकों की अदालत ने सबको नकार दिया।

भारती के कृतित्व पर चतुर्थ अध्याय में विस्तार से चर्चा हो चुकी है, अत: यहाँ विस्तार में न जाकर मैं केवल इतना कहना चाहूँगा कि भारती की लेखकीय प्रतिभा ने साहित्य की सभी विधाओं को अपने कृतित्व से सम्पन्न किया है। उनकी कृतियों में भाषागत और शिल्पगत सौन्दर्य तो भरपूर है ही चिन्तन और संवेदना के स्तर पर भी वे अद्‌भुत हैं। भारती इसलिए भी प्रशंसा के पात्र हैं कि वे चाहते तो बड़ी सुविधा से साहित्यिक आन्दोलनों के नेतृत्व का रास्ता पकड़ सकते थे किन्तु उन्होंने आम आदमी के नाम पर समांतर आन्दोलन चलाकर नाम कमाने में रुचि रखने वालों का गिरोह बनाकर प्रगतिशीलता का लबादा ओढ़ने के बजाय आम आदमी के साथ कंधे से कंधा मिलाकर खड़े होने में ज्यादा सार्थकता और ज्यादा गौरव अनुभव किया।

उन्होंने साहित्य को राजनीतिक निर्देश देने वाली संकुचित प्रगतिशीलता का सदैव खंडन और प्रतिकार किया है। उन्होंने आरम्भ से अन्त तक

राजनीति के हाथों कत्ल होते हुए मानव मूल्यों को साहित्य में संजोने पर हमेशा जोर दिया। वे मानते थे कि साहित्य में राजनीति का दखल किसी भी कीमत पर स्वीकार्य नहीं हो सकता। दैनन्दिन जीवन के सुख-दुख, हर्ष-विकार, प्रणय-विरह जैसे भाव ही मनुष्य के हृदय को चिरन्तन आलोड़ित करते हैं। इसलिए साहित्य में यही भाव स्थायी हैं और इन्हीं का सर्वाधिक महत्व है। जो साहित्य दैनन्दिन सरोकारों से कट जाता है, या उपदेशक बनकर पाठक को भरमाने की कोशिश करता है वह चिरजीवी तो क्या अल्पजीवी भी नहीं हो सकता। यही वह सूत्र है जिससे भारती के साहित्य की आत्मा को समझा जा सकता है।

एक बड़ी बात यह भी है कि आडम्बर से सदैव परहेज करने के कारण भारती के जीवन और उनके साहित्य में कोई विसंगति या विरोधाभास नहीं मिलता। ऐसा माना जाता है कि उन्होंने अपने जीवन में मुख्यतः तीन प्रणय प्रसंगों को जिया, ये प्रसंग उनके साहित्य पर यत्र-तत्र परिलक्षित होते हैं। भारती में परम्परा और आधुनिकता का बड़ा ही सधा हुआ संतुलित समन्वय है। इसीलिए कनुप्रिया की राधा सूर की राधा से सर्वथा अलग है और 'अंधा युग' में कृष्ण केन्द्रीय पात्र न रहकर अश्वत्थामा प्रधान पात्र बन गया है। यह अनायास नहीं है।

इस तरह यह कहा जा सकता है कि भारती ऐसी पारस लेखनी के धनी थे कि उन्होंने जिस विधा को भी छुआ वही सोना बन गई। उनकी लेखनी

इतनी मौलिक और अद्वितीय है कि उसकी न तो अनुकृति हो सकती है और न ही प्रतिकृति। इसीलिए जिन लेखकों ने भी उनकी नकल करने की कोशिश की वे उपहास का पात्र बने। भारत सरकार ने उन्हें पद्मश्री से अलंकृत किया किन्तु मेरी राय में तो वे पत्रकारिता के भी और साहित्य के भी ऐसे भारत रत्न हैं जिनकी कोई तुलना नहीं। 000

परिशिष्ट

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. ठण्डा लोहा — धर्मवीर भारती

2. सात गीत वर्ष — ,,

3. कनुप्रिया — ,,

4. सपना अभी भी — ,,

5. अंधा युग — ,,

6. रंगमंचीय एकांकी — ,,

7. नदी प्यासी थी — ,,

8. गुनाहों का देवता — ,,

9. सूरज का सातवां घोड़ा — ,,

10. चाँद और टूटे हुए लोग — ,,

11. बन्द गली का आखिरी मकान — ,,

12. ठेले पर हिमालय — ,,

13. पश्यन्ती — ,,

14. कहनी-अनकहनी — ,,

15. प्रगतिवाद : एक समीक्षा — ,,

16. मानव मूल्य और साहित्य — ,,

17. सिद्ध साहित्य	,,
18. मुक्तक्षेत्रे-युद्धक्षेत्रे (युद्ध यात्रा)	धर्मवीर भारती
19. देशान्तर	,,
20. ग्यारह सपनों का देश	,,
21. धर्मवीर भारती का साहित्य : सृजन के विविध आयाम	डॉ.चन्द्रभानु सोनवणे
22. धर्मवीर भारती साहित्य के विविध आयाम	डॉ.हुकुम चन्द्र राजपाल
23. कनुप्रिया : एक अध्ययन	अपर्णा खरे
24. अंधा युग : एक शैली वैज्ञानिक अध्ययन	डॉ.कमलेश त्रिवेदी
25. रीति विज्ञान	डॉ. विद्यानिवास मिश्र
26. कामायनी : एक पुनर्विचार	मुक्तिबोध
27. हिन्दी पत्रकारिता : सिद्धान्त और प्रयोग	डॉ. प्रतीक मिश्र
28. हिन्दी पत्रकारिता के सिद्धान्त	डॉ.आर. सी. त्रिपाठी
29. भारती : व्यक्ति और साहित्यकार	डॉ. पुष्पा वास्कर
30. मेरे दस सम्पादक	प्रकाश हिन्दुस्तानी
31. हिन्दी पत्रकारिता	डॉ. राम विद्रोही
32. युग कवि स्वरूप : व्यक्तित्व एवं कृतित्व	राम मनोहर
33. स्वरूप काव्य का समीक्षात्मक विवेचन	डॉ. डी.पी. श्रीवास्तव
34. आधुनिकता : एक पहचान	डॉ. चन्द्रभान रावत
35. आस्था और सौन्दर्य	डॉ. राम विलास शर्मा
36. आधुनिकि साहित्य की प्रवृत्तियां	डॉ. नामवर सिंह

37.सामाजिक आन्दोलन और हिन्दी	डॉ. के.बी. मिश्र
38. कविता और संघर्ष चेतना	डॉ. यश गुलाटी
39. कुछ चन्दन की कुछ कपूर की	डॉ. विष्णुकांत शास्त्री
40. चित्रगीत	विनोद चन्द्र पाण्डेय
41. तार सप्तक द्वितीय	सं. अज्ञेय
41. नव जागरण और छायावाद	डॉ. महेन्द्र नाथ राय
42. नई कविता के प्रतिमान	डॉ. लक्ष्मीकांत वर्मा
43. नई समीक्षा-नये संदर्भ	डॉ. नगेन्द्र
44. प्रगतिवाद : पुनर्मूल्यांकन	हंसराज रहबर
46. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी काव्य	डॉ. आर.जी. सिंह
47. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य	डॉ. विवेकी राय
48. हिन्दी उपन्यास	डॉ. आ. डी. पटेल
49. बच्चन का आत्मकथा साहित्य	डॉ. अंजू शर्मा
50. हिन्दी पत्रकारिता के युग निर्माता	डॉ. लक्ष्मीशंकर व्यास
51. समीक्षा के आयाम	डॉ. प्रताप सिंह चौहान
52. हिन्दी पत्रकारिता : इतिहास एवं स्वरूप	शिव कुमार दुबे
53. पत्रकारिता के सिद्धान्त	डॉ. जमनालाल बायती
54. हिन्दी पत्रकारिता का उद्भव और विकास	काशीनाथ चतुर्वेदी
55.हिन्दी की साहित्यिक पत्रिकाएं	एस.डी. अष्ठाना
56. पत्रकारिता : आजादी के बाद	डॉ. ज्योति मंगल

57. मीडिया और समाज — सं. डॉ.पी.पी. सिंह

58. अभिव्यक्ति के खतरे — ईशान अवस्थी

59. मेरे प्रियजन — दिवाकर अवस्थी

60. कलम के खतरे — एन.पी. राजन

61. हिन्दी के प्रमुख पत्रकार — चन्द्रभान चौरसिया

62. साहित्यिक पत्रिकाएँ — डॉ. सुधाकर सक्सेना

63. साहित्यिक पत्रकारिता — युगांक धीर

64. लेकिन दरवाजा — पंकज बिष्ट

कोश

1. वृहद हिन्दी पत्र-पत्रिका कोश — सं.सूर्य प्रकाश दीक्षित

2.सहस्त्राब्दि साहित्यकार कोश — सं. डॉ. रामस्वरूप खरे

पत्रिकाएँ

1. धर्मयुग	बम्बई
2. साप्ताहिक हिन्दुस्तान	नई दिल्ली
3. मधुस्यन्दी	उरई
4. सारिका	नई दिल्ली
5. नवनीत	नई दिल्ली
6. कादम्बिनी	नई दिल्ली
7. संगम	इलाहाबाद
8. नई कविता	इलाहाबाद
9. निकष	इलाहाबाद
10. संडे मेल	नई दिल्ली
11. रविवार	
12. दिनमान	नई दिल्ली
13. वामा	नई दिल्ली
14. पहल	

समाचार पत्र

1. नवभारत टाइम्स	नई दिल्ली
2. हिन्दुस्तान	नई दिल्ली
3. वीर अर्जुन	नई दिल्ली
4. जनसत्ता	नई दिल्ली
5. राष्ट्रीय सहारा	नई दिल्ली / लखनऊ
6. दैनिक जागरण	कानपुर
7. आज	कानपुर
8. अमर उजाला	झाँसी
9. दैनिक भास्कर	भोपाल
10. नवभारत	भोपाल
11. नई दुनिया	इन्दौर
12. दैनिक नई दुनिया	भोपाल
13. राजस्थान पत्रिका	जयपुर
14. देशबन्धु	भोपाल
15. चौथा संसार	इन्दौर